

बिहार राज्य

बनाम

दरभंगा के महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह एवं अन्य

(1951 का वाद संख्याएँ 305 से 348 तथा 1951 का याचिका संख्या 612)

02 मई, 1952

[पतंजलि शास्त्री मुख्य न्यायमूर्ति, मेहर चंद महाजन, मुखर्जी, दास और चन्द्रशेखर अय्यर

न्यायमूर्तिगण]

बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (अधिनियम संख्या 30) — जमींदारियों के उन्मूलन हेतु विधि — वैधता — प्रतिकर तथा लोक प्रयोजन का प्रावधान करने की आवश्यकता — वैधता की जांच हेतु न्यायालय का क्षेत्राधिकार — विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन — संविधान पर कपट— भारत का संविधान, 1950 — संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 — अनुच्छेद 31, 31-क, 31-ख, 362, 363 — अनुसूची VII, सूची II की प्रविष्टियाँ 18, 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 — व्याख्या — संविधान की भावना — अधिग्रहणाधिकार — “विधि”, “विधायिका”, “लोक प्रयोजन” के अर्थ — विलय के अभिसमय के अर्थ — शासक की निजी संपत्ति का अनिवार्य अधिग्रहण — बकाया किराया का 50% देकर अधिग्रहण — कार्यों की लागत हेतु कटौती — वैधता।

निर्णीत — बहुमत मत (महेजन, मुखर्जी तथा चन्द्रशेखर अय्यर, न्यायमूर्तिगण) के अनुसार — बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (अधिनियम संख्या 30) असंवैधानिक या शून्य नहीं है, अपितु केवल इसकी धारा 4(ख) तथा धारा 23(च) के प्रावधानों को छोड़कर; उक्त धारा 4(ख) तथा धारा 23(च) के प्रावधान असंवैधानिक हैं। पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश तथा दास, न्यायमूर्ति के अनुसार — बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 का

संपूर्ण अधिनियम, जिसमें धारा 4(ख) तथा धारा 23(च) के प्रावधान भी सम्मिलित हैं, संवैधानिक एवं वैध है।

पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश तथा महाजन, मुखर्जी, दास एवं चन्द्रशेखर अय्यर, न्यायमूर्तिगण के अनुसार—(i) बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (अधिनियम संख्या 30) सूची II की प्रविष्टि 18, अर्थात् “भूमि एवं भू-अधिकार” से संबंधित विधि नहीं है, बल्कि “संपत्ति के अधिग्रहण” से संबंधित विधि है, जो सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत आती है।

(ii) राज्य द्वारा अधिग्रहित संपत्ति के लिए प्रतिकर का भुगतान करने का दायित्व, सूची II की प्रविष्टि 36 को अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ मिलाकर पढ़ने पर, या संविधान की भावना से, स्वतः आरोपित दायित्व नहीं है। फलतः, संपत्ति के अधिग्रहण से संबंधित किसी विधि की वैधता पर इस आधार पर आपत्ति करना कि उसमें प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान नहीं है, वस्तुतः अनुच्छेद 31(2) के उल्लंघन के आधार पर आपत्ति करना है, और संविधान की नवम अनुसूची में उल्लिखित किसी विधि के संबंध में ऐसी आपत्ति पर विचार करने का न्यायालय का क्षेत्राधिकार अनुच्छेद 31(4), 31-क तथा 31-ख द्वारा प्रतिबंधित है। दास, न्यायमूर्ति के अनुसार— यह मानते हुए भी कि प्रतिकर का भुगतान करने का दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़ने पर निहित है, तब भी अधिनियम की वैधता को अनुच्छेद 31(4), 31-ए तथा 31-बी के कारण चुनौती नहीं दी जा सकती।

(iii) अधिनियम की धारा 32(2), जो राज्य सरकार को “किस अनुपात में प्रतिकर नकद तथा बांडों में देय होगा तथा उसके भुगतान की विधि क्या होगी” के संबंध में नियम बनाने का अधिकार प्रदान करती है, विधायी शक्तियों का प्रत्यायोजन नहीं है, विशेषकर इस कारण कि विधायिका ने स्वयं धारा 32(2) में यह उपबंधित किया है कि प्रतिकर नकद या बांडों में अथवा आंशिक रूप से नकद तथा आंशिक रूप से बांडों में देय होगा तथा उसके

भुगतान की किस्तों की संख्या भी निर्धारित कर दी है। सूची II की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त “अधीन” शब्दों का केवल यह अभिप्राय है कि जब भी राज्य विधायिका प्रविष्टि 36 के अंतर्गत अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए कोई विधि बनाएगी, तो वह विधि सूची III की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत संसद द्वारा बनाई गई विधि के प्रावधानों के अधीन होगी। इन शब्दों का यह अर्थ नहीं है कि जब राज्य प्रविष्टि 36 के अंतर्गत कोई विधि बनाए, तो उसे अनिवार्यतः उन सिद्धांतों को निर्धारित करना होगा जिनके आधार पर अधिग्रहित संपत्ति के लिए देय प्रतिकर का निर्धारण किया जाएगा तथा उसे देने के स्वरूप एवं विधि को भी निर्दिष्ट करना होगा।

(iv) विधायी सूचियों की प्रविष्टियाँ मात्र सक्षमकारी प्रकृति की होती हैं। उनके अंतर्गत विधायिकाओं को प्रदत्त शक्ति के साथ उस शक्ति के प्रयोग का कोई दायित्व संलग्न नहीं होता, और इस कारण जूलियस बनाम ऑक्सफ़ोर्ड के बिशप [5 ए.सी. 214] में प्रतिपादित सिद्धांत का इन सूचियों पर कोई अनुप्रयोग नहीं होता।

पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश तथा मुखर्जी एवं दास, न्यायमूर्तिगण के अनुसार— (महाजन एवं चन्द्रशेखर अय्यर, न्यायमूर्तिगण असहमत)—अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति के प्रयोग हेतु लोक प्रयोजन का अस्तित्व एक पूर्वापेक्षा के रूप में अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों का अभिन्न एवं आवश्यक अंग है, और ऐसे प्रावधान के उल्लंघन को अनिवार्य अधिग्रहण हेतु बनाए गए किसी अधिनियम की वैधता को चुनौती देने के आधार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। दास, न्यायमूर्ति के अनुसार—यह मानते हुए भी कि लोक प्रयोजन की आवश्यकता सूची II की प्रविष्टि 36 तथा/अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 में निहित है, तब भी अनुच्छेद 31(4), 31-क तथा 31-ख अधिनियम को इस आधार पर चुनौती से संरक्षित करेंगे कि अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए नहीं था। किसी भी स्थिति में, विवादित अधिनियम लोक प्रयोजन द्वारा समर्थित है।

महाजन तथा चन्द्रशेखर अय्यर, न्यायमूर्तिगण के अनुसार—अनुच्छेद 31(4) का क्षेत्र केवल अनुच्छेद 31(2) के स्पष्ट प्रावधानों तक सीमित है, और यद्यपि न्यायालय अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित किसी विधि में प्रतिकर के प्रावधानों की सीमा या पर्याप्तता की जांच नहीं कर सकते, तथापि अनुच्छेद 31(4) न्यायालय को यह विचार करने से वंचित नहीं करता कि अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए है या नहीं। यद्यपि अधिनियम का मुख्य उद्देश्य, अर्थात् सम्पत्तियों का अधिग्रहण, लोक प्रयोजन के लिए है, किन्तु जमींदारों को देय बकाया किराये का 50 प्रतिशत मूल्य देकर उसका अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए नहीं माना जा सकता, और इस कारण अधिनियम की धारा 4, खंड (ख) असंवैधानिक एवं शून्य है। मुखर्जी, न्यायमूर्ति के अनुसार—यह मानते हुए भी कि अनुच्छेद 31(4) अनुच्छेद 31(2) में निहित सभी बातों पर, चाहे वे स्पष्ट रूप से हों या निहित रूप से, लागू होता है और फलतः लोक प्रयोजन के अस्तित्व का प्रश्न न्यायनिर्णय नहीं है, तथापि धारा 4, खंड (ख) का वास्तविक उद्देश्य व्यक्ति को उसके धन से वंचित करना है, जो अधिग्रहणाधिकार के अंतर्गत अधिग्रहण का विषय नहीं है, बिना किसी प्रतिदान के। प्रविष्टि 42 के अंतर्गत कार्य करने के आवरण में, विधायिका ने वस्तुतः उसके प्रावधानों से बचते हुए उन्हें निष्प्रभावी कर दिया है, और इस कारण धारा 4, खंड (ख) असंवैधानिक एवं शून्य है।

पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश के अनुसार—यद्यपि धन के रूप में अधिग्रहण के संबंध में स्थिति जो भी हो, यह कहना सही नहीं है कि सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत बनाई गई कोई विधि, देय किराये के बकाये जैसे दावाधिकार के अधिग्रहण को अधिकृत नहीं कर सकती, जो उस प्रविष्टि तथा अनुच्छेद 31 में प्रयुक्त “संपत्ति” शब्द के अंतर्गत आते हैं। यह मत कि ऐसे बकाये की आधी राशि नकद या सरकारी बांड के रूप में दिए जाने से जमींदार को शेष राशि के लिए प्रतिकर से वंचित कर दिया जाता है, समान रूप से त्रुटिपूर्ण है। अतः धारा 4, खंड (ख) न तो अधिकारातीत है और न ही असंवैधानिक।

महाजन, मुखर्जी तथा चन्द्रशेखर अय्यर, न्यायमूर्तिगण के अनुसार—(पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश तथा दास, न्यायमूर्ति असहमत)—अधिनियम की धारा 23(ख), जो “रैयत के हित के कार्यों की लागत” के लिए सकल संपत्तियों में से प्रतिशत के आधार पर कटौती का प्रावधान करती है, प्रत्यक्षतः सूची III की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत बनाई गई प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः यह एक आभासी विधायन है, जो केवल सकल संपत्तियों को कम करने का एक उपाय है, और वास्तव में प्रविष्टि 42 के अंतर्गत नहीं आती, अतः यह असंवैधानिक है। पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश तथा दास, न्यायमूर्ति के अनुसार—जमींदारों पर अपने गाँवों में लघु सिंचाई कार्यों का रख-रखाव एवं मरम्मत करने का दायित्व है, जो रैयतों के लिए लाभकारी हैं, और ऐसे कार्यों की लागत को सम्पदा की शुद्ध संपत्ति की गणना करते समय घटाना पूर्णतः वैध है, अतः धारा 23(च) असंवैधानिक नहीं है। अतिरिक्त रूप से, चूँकि विवादित अधिनियम के संदर्भ में प्रतिकर का भुगतान न्यायनिर्णय विषय नहीं है, अनुच्छेद 31(4), 31-क तथा 31-ख को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय के लिए यह विचार करना संभव नहीं है कि प्रतिकर में कमी करने वाली कोई कटौती अनुचित है और इस कारण संविधान पर कपट है।

महाजन, न्यायमूर्ति के अनुसार—“लोक प्रयोजन” पद का अर्थ उस समय की परिस्थितियों एवं भावना के अनुरूप किया जाना चाहिए जिसमें संबंधित विधि बनाई गई हो, और इस प्रकार व्याख्या करने पर, कुछ व्यक्तियों के हाथों में विशाल भू-क्षेत्रों के संकेंद्रण को रोकने तथा मध्यस्थों को समाप्त करने के उद्देश्य से सम्पत्तियों का अधिग्रहण लोक प्रयोजन के अंतर्गत आता है।

दास, न्यायमूर्ति के अनुसार—“लोक प्रयोजन” क्या है, इसके संबंध में कोई कठोर एवं निश्चित परिभाषा निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि यह अवधारणा सभी देशों में तीव्र गति से परिवर्तित होती रही है; तथापि यह स्पष्ट है कि किसी उद्देश्य या लक्ष्य में समुदाय के

सामान्य हित का तत्व उपस्थित होना ही उसे लोक प्रयोजन में परिवर्तित करता है, और जो भी समुदाय के सामान्य हित को आगे बढ़ाता है, व्यक्तिगत हित के विपरीत, उसे लोक प्रयोजन माना जाना चाहिए।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 132(1) के अधीन अपीलें, दिनांक 12 मार्च, 1951 के निर्णय एवं डिक्री, जो पटना उच्च न्यायालय (शियरर, रूबेन तथा दास, न्यायमूर्तिगण) द्वारा शीर्षक वाद संख्याएँ 1 से 3 तथा विविध न्यायिक वाद संख्याएँ 230-234, 237-244, 246 से 254, 257, 261 से 264, 266, 268, 270 से 277, 287-290 तथा 297, वर्ष 1951 में पारित की गई थीं, के विरुद्ध। याचिका संख्या 612, वर्ष 1951, जो संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन हेतु दायर की गई थी, भी इन अपीलों के साथ सुनी गई।

इन अपीलों एवं याचिका के उत्पन्न होने के तथ्य निर्णय में वर्णित हैं।

एम. सी. सेटालवद (भारत के महान्यायवादी) तथा महावीर प्रसाद (बिहार के महाधिवक्ता), साथ में जी. एन. जोशी, लाल नारायण सिंह एवं अल्लादी कुप्पुस्वामी, बिहार राज्य की ओर से।

पी. आर. दास (बी. सेन, उनके साथ), वाद संख्याएँ 339, 319, 327, 330 तथा 332, वर्ष 1951 में उत्तरदाताओं की ओर से।

संजिब के. चौधरी, एस. एन. मुखर्जी, एस. के. कपूर — वाद संख्याएँ 309, 328 एवं 336, वर्ष 1951 में उत्तरदाताओं की ओर से।

उरुक्रमदास चक्रवर्ती — वाद संख्याएँ 326, 337 एवं 344, वर्ष 1951 में उत्तरदाताओं की ओर से।

रघोसरन लाल — वाद संख्याएँ 310, 311 एवं 329, वर्ष 1951 में उत्तरदाताओं की ओर से।

एस. सी. मजूमदार — वाद संख्या 315, वर्ष 1951 में उत्तरदाता की ओर से।

एस. मुस्तफीद एवं जगदीश चन्द्र सिन्हा — वाद संख्याएँ 307, 313, 320, 321 एवं 322, वर्ष 1951 में उत्तरदाताओं की ओर से।

राय पारसनाथ — वाद संख्या 331, वर्ष 1951 में उत्तरदाता की ओर से।

एस. के. कपूर — याचिका संख्या 612, वर्ष 1951 में याचिकाकर्ता की ओर से।

1952, मई 2 एवं 5 — न्यायालय ने निम्नलिखित निर्णय दिया:—

पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश—*ये अपीलें एवं याचिकाएँ, जो तीन समूहों में विभाजित हैं, तीन राज्य अधिनियमों की संवैधानिक वैधता के प्रश्न को उठाती हैं, जिन्हें कहा जाता है —

बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (बिहार अधिनियम XXX 1950),

मध्य प्रदेश स्वामित्व अधिकार उन्मूलन (एस्टेट्स, महाल, प्रदत्त भूमियाँ) अधिनियम, 1950 (संख्या 1, वर्ष 1951), तथा

उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (उ.प्र. अधिनियम संख्या 1, वर्ष 1951)

(जिन्हें आगे क्रमशः बिहार अधिनियम, मध्य प्रदेश अधिनियम तथा उत्तर प्रदेश अधिनियम कहा जाएगा)।

*मुख्य न्यायाधीश ने अपने निर्णय में उपर्युक्त वादों एवं याचिका पर विचार किया तथा साथ ही याचिका संख्याएँ 166, 228, 237, 245, 246, 257, 268, 280 से 285, 287 से 289, 317, 318 एवं 487, वर्ष 1951 (जो मध्य प्रदेश स्वामित्व अधिकार उन्मूलन (एस्टेट्स, महाल, प्रदत्त भूमियाँ) अधिनियम, 1950 से संबंधित थीं) तथा वाद संख्याएँ 283 से 295, वर्ष 1951 (जो उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार अधिनियम, 1950 से संबंधित थीं) पर भी विचार किया।

इन विधियों का सामान्य उद्देश्य, व्यापक रूप से कहें तो, उपर्युक्त तीनों राज्यों में जमींदारियों तथा अन्य स्वामित्वाधिकारयुक्त सम्पत्तियों एवं अधिकारों का उन्मूलन करना है, ताकि उनके अधिकारों एवं हितों के अनिवार्य अधिग्रहण के माध्यम से मध्यस्थों को समाप्त किया जा सके और उन क्षेत्रों के रैयतों तथा अन्य भू-अधिभोगियों को सीधे सरकार के साथ संबंध में लाया जा सके। इन अधिनियमों की संवैधानिकता को संबंधित राज्य उच्च न्यायालयों में विभिन्न आधारों पर चुनौती दी गई, जिनमें बिहार अधिनियम को इस आधार पर असंवैधानिक एवं शून्य घोषित किया गया कि वह संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करता है, जबकि अन्य आधारों को अस्वीकार कर दिया गया; वहीं अन्य दोनों अधिनियमों को संवैधानिक एवं वैध ठहराया गया। वर्तमान अपीलें इन्हीं निर्णयों के विरुद्ध दायर की गई हैं। कुछ अन्य जमींदारों द्वारा भी इस न्यायालय में अनुच्छेद 32 के अधीन याचिकाएँ दायर की गई हैं, जिनमें उन्हीं प्रश्नों के निर्धारण की मांग की गई है। इन सभी अपीलों एवं याचिकाओं में विचारार्थ जो सामान्य प्रश्न उत्पन्न होता है, वह यह है कि क्या इन तीनों विवादित अधिनियमों को पारित करने वाली संबंधित राज्य विधायिकाएँ संवैधानिक रूप से उन्हें बनाने में सक्षम थीं, यद्यपि कुछ प्रकरणों में कुछ विशेष प्रश्न भी सम्मिलित हैं।

जैसा कि कहा गया है, अधीनस्थ न्यायालयों में विभिन्न आधारों पर आक्षेप प्रस्तुत किए गए थे, और वे सभी अपीलों के ज्ञापन तथा याचिकाओं में पुनः उठाए गए, जिन पर विचार किया जाना अपेक्षित था; किन्तु संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 (जिसे आगे संशोधन अधिनियम कहा जाएगा), जो इन कार्यवाहियों के लंबित रहने के दौरान अस्थायी संसद द्वारा पारित किया गया, के कारण स्थिति परिवर्तित हो गई। उक्त अधिनियम ने नए अनुच्छेद 31-ए तथा 31-बी को जोड़कर सामान्यतः उन सभी विधियों को, जो सम्पत्तियों या उनमें निहित हितों के अधिग्रहण का प्रावधान करती हैं, तथा विशेष रूप तथा इन अनुच्छेदों के प्रभाव को प्रतिगामी बनाया गया, क्योंकि संशोधन अधिनियम की धारा 4 में यह उपबंध किया गया कि अनुच्छेद 31-क "सदैव से जोड़ा गया माना जाएगा" और

अनुच्छेद 31-ख में यह कि निर्दिष्ट अधिनियमों में से कोई भी “कभी भी शून्य नहीं माना जाएगा”। संशोधन अधिनियम की वैधता को भी इस न्यायालय में अनुच्छेद 32 के अधीन आरंभ की गई कार्यवाहियों में चुनौती दी गई थी, किन्तु उसे *शंकरि प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य*⁽¹⁾ में यथावत् वैध ठहराया गया। फलस्वरूप, विवादित अधिनियमों को अब भाग III के प्रावधानों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के कथित उल्लंघन के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

तथापि, यह ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद 31-क तथा 31-ख केवल एक सीमित प्रकार की चुनौती के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करते हैं, अर्थात् इस आधार पर कि संबंधित विधि “इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के साथ असंगत है या उन्हें छीनती अथवा सीमित करती है।” यह बात अनुच्छेद 31-क के प्रारंभिक शब्दों “इस भाग के पूर्ववर्ती प्रावधानों के होते हुए भी” से और स्पष्ट हो जाती है। अतः संशोधन अधिनियम, संविधान के अनुच्छेद 246 के साथ सप्तम अनुसूची की सूची II या सूची III की प्रविष्टियों के अधीन विधायी क्षमता के अभाव के आधार पर की गई चुनौती से कोई संरक्षण प्रदान नहीं करता, क्योंकि संशोधन अधिनियम ने सूचियों को किसी प्रकार से प्रभावित नहीं किया। तदनुसार, जमींदारों की ओर से प्रमुख अधिवक्ता श्री पी. आर. दास ने इन कार्यवाहियों में अपना मुख्य तर्क सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 पर आधारित किया, जो इस प्रकार हैं:—

“36. संपत्ति का अधिग्रहण अथवा अधिग्रहण हेतु अधिप्राप्ति, संघ के प्रयोजनों को छोड़कर, सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन।

42. वे सिद्धांत जिनके आधार पर संघ या राज्य के प्रयोजनों के लिए अथवा किसी अन्य लोक प्रयोजन हेतु अधिग्रहित या अधिप्राप्त संपत्ति के लिए प्रतिकर का निर्धारण किया जाएगा, तथा वह स्वरूप और विधि जिनके द्वारा ऐसा प्रतिकर दिया जाएगा।”

(1) [1952] एस.सी.आर 89.

तर्क का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—सूची II की प्रविष्टि 36 को अनुच्छेद 246(3) के साथ पढ़ने पर स्पष्ट है कि राज्य विधायिका को अधिग्रहणाधिकार का प्रयोग करने, अर्थात् निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण का अधिकार प्रदान करना अभिप्रेत था। ऐसी शक्ति का प्रयोग सभी सभ्य देशों के न्यायशास्त्र में इस शर्त के अधीन माना गया है कि वह लोक आवश्यकता तथा प्रतिकर के भुगतान से संबंधित होगा। इस देश में इस प्रकार के अधिग्रहण को अधिकृत करने वाली सभी विधियाँ, बंगाल कोड के विनियम I, 1824 से लेकर भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 तक, इसी आधार पर आधारित रही हैं। अतः, लोक प्रयोजन का अस्तित्व तथा प्रतिकर का भुगतान करने का दायित्व, निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के आवश्यक सहगामी होने के कारण, “अधिग्रहण” शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि उसमें उपर्युक्त दोनों शर्तें अनिवार्य रूप से निहित हों। विधियों की व्याख्या का यह एक स्वीकृत सिद्धांत है कि, जब तक विधि के शब्द स्पष्ट रूप से ऐसा अपेक्षित न करें, किसी विधि की ऐसी व्याख्या नहीं की जानी चाहिए जिससे किसी व्यक्ति की संपत्ति बिना प्रतिकर के छीन ली जाए : *अटॉर्नी-जनरल बनाम डी कीजर रॉयल होटल*⁽¹⁾। अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति, अपने आप में, प्रतिकर के भुगतान के अधिकार को निहित रूप से उत्पन्न करती है : *सेंट्रल कंट्रोल बोर्ड बनाम कैन्नन ब्रूअरी*⁽²⁾। सूची II की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त शब्द “सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन” इस तर्क को और सुदृढ़ करते हैं, क्योंकि इन शब्दों का अर्थ यह माना जाना चाहिए कि संपत्ति के अधिग्रहण से संबंधित विधि बनाने की शक्ति का प्रयोग इस शर्त के अधीन किया जाएगा कि ऐसी विधि में प्रविष्टि 42 में उल्लिखित विषयों का भी प्रावधान किया जाए; अन्य शब्दों में, लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर के भुगतान—जो दोनों ही प्रविष्टि 42 में उल्लिखित हैं—की द्विविधि सीमा, प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधि निर्माण की शक्ति के प्रयोग पर आरोपित है। किसी भी स्थिति में, प्रविष्टि 42 के अंतर्गत प्रदत्त विधायी शक्ति ऐसी शक्ति है जो एक दायित्व के साथ संबद्ध है, अर्थात्

(1) [1920] ए.सी. 508, 542.

(2) [1919] ए.सी. 744.

उसका प्रयोग उन स्वामियों के हित में किया जाना चाहिए जिनकी संपत्तियाँ प्रविष्टि 36 के अंतर्गत बनाई गई विधि के अधीन अनिवार्य रूप से अधिग्रहित की जाती हैं। इन सभी कारणों से यह प्रतिपादित किया गया कि राज्य विधायिकाओं के पास ऐसी विधि बनाने की शक्ति नहीं थी जो लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर के भुगतान की दोनों शर्तों को पूरा किए बिना संपत्ति के अधिग्रहण का प्रावधान करे।

इन तर्कों के आधार पर, अधिवक्ता ने विवादित अधिनियमों के विभिन्न प्रावधानों का विस्तारपूर्वक परीक्षण किया, ताकि यह प्रदर्शित किया जा सके कि जिन प्रतिकर का वे प्रावधान करते प्रतीत होते हैं, उसे “विभिन्न उपायों एवं युक्तियों” के माध्यम से अधिग्रहित संपत्तियों के बाजार मूल्य की तुलना में एक आभासी स्तर तक घटा दिया गया है। प्रतिकर की गणना हेतु निर्धारित सिद्धांत वास्तव में “अधिग्रहण नहीं, अपहरण के सिद्धांत” के रूप में कार्य करते हैं, और इन अधिनियमों का निर्माण वस्तुतः “संविधान पर कपट” है, जहाँ प्रत्येक अधिनियम एक आभासी विधायी उपाय के रूप में निजी संपत्तियों का अधिग्रहण बिना प्रतिकर के करने हेतु बनाया गया है, जबकि संविधान के प्रावधानों के अनुपालन का दिखावा किया गया है। इसके अतिरिक्त, ये अधिनियम किसी लोक प्रयोजन के लिए भी नहीं बनाए गए थे; इनका एकमात्र उद्देश्य एवं प्रभाव जमींदारों तथा भू-स्वामियों के वर्ग का उन्मूलन करना तथा सरकार को “सुपर-भू-स्वामी” बनाना था। यद्यपि ऐसा उद्देश्य सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की नीति के रूप में उपयुक्त प्रतीत हो सकता है, तथापि विधि की दृष्टि में इसे लोक प्रयोजन नहीं माना जा सकता।

श्री सोमैया, जो मध्य प्रदेश समूह के कुछ जमींदारों की ओर से उपस्थित हुए, ने श्री दास के तर्कों को अपनाते हुए एक अतिरिक्त आपत्ति का आधार प्रस्तुत किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि विवादित अधिनियम अनुच्छेद 31(3) में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार पारित नहीं किए गए, जिसमें यह प्रावधान है—

“खंड (2) में उल्लिखित प्रकार का कोई भी विधि, जो किसी राज्य की विधायिका द्वारा बनाई गई हो, तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि ऐसी विधि राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे जाने के उपरांत उनकी स्वीकृति प्राप्त न कर ले।”

विद्वान अधिवक्ता ने “विधि” तथा “विधायिका” शब्दों पर बल देते हुए प्रस्तुत किया कि, चूँकि राज्य की विधायिका में राज्यपाल भी सम्मिलित होते हैं (अनुच्छेद 168) और कोई विधेयक तभी विधि बनता है जब उस पर अनुच्छेद 200 के अंतर्गत राज्यपाल की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, अतः अनुच्छेद 31 के खंड (3) की यह अपेक्षा मानी जानी चाहिए कि संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण को अधिकृत करने वाली किसी राज्य विधि को राज्यपाल तथा राष्ट्रपति—दोनों की स्वीकृति प्राप्त हो; प्रथम, उसे विधि बनाने के लिए, और द्वितीय, उसे “प्रभावी” बनाने के लिए। चूँकि संबंधित विधेयकों को प्रत्येक प्रकरण में राज्यपाल द्वारा, विधायिका के सदन या सदनों द्वारा पारित किए जाने के उपरांत, अनुच्छेद 200 के अधीन अपनी स्वीकृति प्रदान किए बिना ही राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख दिया गया, अतः ये अधिनियम अनुच्छेद 31(3) की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते थे और इस कारण “प्रभावी” नहीं हो सकते थे। यह भी प्रतिपादित किया गया कि यह आपत्ति अनुच्छेद 31-क या अनुच्छेद 31-ख द्वारा निषिद्ध नहीं है, क्योंकि यह मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर आधारित नहीं है।

डॉ. आंबेडकर, जो उत्तर प्रदेश समूह के कुछ जमींदारों की ओर से उपस्थित हुए, ने एक भिन्न प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया। उन्होंने सूची II की प्रविष्टि 36 अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 पर कोई निर्भरता नहीं रखी। उन्होंने उस बात को स्वीकार किया, जिसका श्री दास ने तीव्र विरोध किया था, कि उक्त प्रविष्टियाँ, जो राज्य विधायिका को निर्दिष्ट विषयों पर विधि बनाने की शक्ति प्रदान करती हैं, उनकी व्याख्या इस प्रकार नहीं की जा सकती कि वे प्रतिकर के भुगतान का कोई दायित्व निहित करती हों। किन्तु उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि बिना लोक आवश्यकता तथा प्रतिकर के भुगतान के निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के विरुद्ध

एक संवैधानिक निषेध "संविधान की भावना" से निष्कर्षित किया जा सकता है, जिसे उनके अनुसार किसी विधि की संवैधानिकता का परीक्षण करने का एक वैध मापदंड माना जाना चाहिए। संविधान, जो स्पष्ट रूप से स्वतंत्रता, न्याय तथा समानता की स्थापना तथा सीमित शक्तियों वाली स्वतंत्र जनता की सरकार के निर्माण के लिए बनाया गया है, उसे इस रूप में समझा जाना चाहिए कि उसमें बिना उचित प्रतिकर तथा लोक प्रयोजन के निजी संपत्ति के अधिग्रहण के विरुद्ध एक निहित निषेध विद्यमान है। उन्होंने कुछ अमेरिकी निर्णयों तथा ग्रंथों पर यह प्रतिपादित करने हेतु भरोसा किया कि जहाँ किसी विषय में कोई स्पष्ट निषेध अधिनियमित नहीं किया गया हो, वहाँ संविधान की भावना से निहित रूप में एक संवैधानिक निषेध निकाला जा सकता है। अनुच्छेद 31-क तथा 31-ख केवल भाग III द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों के कथित उल्लंघन पर आधारित आपतियों को ही निरुद्ध करते हैं; किन्तु यदि संविधान के अन्य प्रावधानों से यह निष्कर्षित किया जा सके कि राज्य द्वारा निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से पूर्व लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर का भुगतान आवश्यक है, तो उपर्युक्त दोनों अनुच्छेदों में ऐसा कुछ नहीं है जो इस आधार पर आपत्ति उठाने से रोके कि विवादित अधिनियम इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते और अतः असंवैधानिक हैं।

उपर्युक्त आक्षेपों के अतिरिक्त, जो तीनों विवादित अधिनियमों के लिए समान थे, प्रत्येक अधिनियम अथवा उसके कुछ विशिष्ट प्रावधानों की वैधता को कुछ विशेष आधारों पर भी चुनौती दी गई। इन पर विचार करना उपयुक्त होगा, जब उपर्युक्त संक्षेपित मुख्य तर्कों का निस्तारण कर लिया जाए, जो तीनों वाद-समूहों में समान हैं।

मेरे मत में ये तर्क नितांत निराधार एवं निर्बल हैं और इन्हें अस्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है। वस्तुतः, जमींदार इस विवाद की अंतिम अवस्था में पराजित हो चुके थे, जब इस न्यायालय ने संशोधन अधिनियम की संवैधानिकता को यथावत् मान्यता दी, जिसे अस्थायी संसद ने अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ इस वाद-विवाद का अंत करने के लिए अधिनियमित किया था। यह उनके विद्वान अधिवक्ताओं का अवमूल्यन नहीं होगा यदि यह

कहा जाए कि शेष अभियान ऐसे दुर्बल तर्कों के सहारे लड़ा गया, जिन्हें अत्यधिक प्रयास एवं कल्पनाशीलता से ही प्रस्तुत किया जा सका।

यहाँ उन संविधान के प्रासंगिक प्रावधानों को उद्धृत करना सुविधाजनक होगा, जिन पर हमारे समक्ष प्रस्तुत तर्क मुख्यतः आधारित रहे हैं।

अनुच्छेद 31(2) — कोई भी संपत्ति, चाहे चल हो या अचल, किसी लोक प्रयोजन के लिए किसी ऐसी विधि के अधीन अधिग्रहित नहीं की जाएगी, जो ऐसे अधिग्रहण को अधिकृत करती हो, जब तक कि वह विधि उस संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान न करे, जो अधिग्रहित की जा रही है, तथा या तो प्रतिकर की राशि निर्धारित करे या उन सिद्धांतों तथा उस विधि का उल्लेख करे जिनके आधार पर प्रतिकर का निर्धारण किया जाएगा और प्रदान किया जाएगा।

(3) खंड (2) में उल्लिखित प्रकार की कोई भी विधि, जो किसी राज्य की विधायिका द्वारा बनाई गई हो, तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि ऐसी विधि, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे जाने के उपरांत, उनकी स्वीकृति प्राप्त न कर ले।

(4) यदि इस संविधान के प्रारंभ के समय किसी राज्य की विधायिका में लंबित कोई विधेयक, उस विधायिका द्वारा पारित किए जाने के उपरांत, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो और उसे उनकी स्वीकृति प्राप्त हो गई हो, तो इस संविधान में निहित किसी भी बात के होते हुए भी, ऐसी स्वीकृत विधि को इस आधार पर किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी कि वह खंड (2) के प्रावधानों का उल्लंघन करती है।

(5) खंड (2) में निहित कोई भी बात निम्नलिखित को प्रभावित नहीं करेगी—

(क) किसी विद्यमान विधि के प्रावधानों को, उस विधि को छोड़कर जिस पर खंड (6) के प्रावधान लागू होते हैं, या

(ख) किसी ऐसी विधि के प्रावधानों को, जो राज्य भविष्य में बनाए—

(i) किसी कर या दंड के अधिरोपण या वसूली के उद्देश्य से, या

(ii) लोक स्वास्थ्य की उन्नति या जीवन अथवा संपत्ति के लिए उत्पन्न होने वाले खतरे की रोक थाम क लिए, या

(iii) भारत के प्रभुत्व की सरकार या भारत सरकार तथा किसी अन्य देश की सरकार

के बीच संपन्न किसी समझौते के अनुपालन में, या अन्यथा, ऐसी संपत्ति के संबंध में जिसे विधि द्वारा परित्यक्त संपत्ति घोषित किया गया हो ,

31-ए — सम्पत्तियों आदि के अधिग्रहण संबंधी विधियों का संरक्षण—(1) इस भाग के पूर्ववर्ती प्रावधानों में निहित किसी भी बात के होते हुए भी, राज्य द्वारा किसी सम्पत्ति अथवा उसमें निहित किसी अधिकार के अधिग्रहण के लिए या ऐसे किसी अधिकार के उन्मूलन अथवा संशोधन के लिए बनाई गई कोई भी विधि इस आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी कि वह इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के साथ असंगत है या उन्हें छीनती अथवा सीमित करती है :

31-बी कुछ अधिनियमों एवं विनियमों का वैधीकरण—अनुच्छेद 31-क में निहित प्रावधानों की व्यापकता को प्रभावित किए बिना, नवम अनुसूची में निर्दिष्ट किसी भी अधिनियम या विनियम, अथवा उनके किसी भी प्रावधान को, इस आधार पर शून्य नहीं माना जाएगा और न ही कभी शून्य माना गया समझा जाएगा कि ऐसा अधिनियम, विनियम अथवा उसका कोई प्रावधान इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के साथ असंगत है या उन्हें छीनता अथवा सीमित करता है, इस आधार पर शून्य नहीं माना जाएगा, और किसी न्यायालय या अधिकरण के किसी निर्णय, डिक्री या आदेश के होते हुए भी, उक्त अधिनियमों एवं विनियमों के प्रावधान, सक्षम विधायिका की उन्हें निरस्त या संशोधित करने की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रभावी बने रहेंगे।

यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 31(4) का क्षेत्र, अनुच्छेद 31-क की अपेक्षा एक ही समय में संकीर्ण भी है और व्यापक भी; पहला केवल उन विधियों पर लागू होता है जो संविधान के प्रारंभ के समय विधायिका में लंबित थीं, जबकि दूसरा किसी ऐसे प्रतिबंध के अधीन नहीं है। पुनः, अनुच्छेद 31(4) केवल अनुच्छेद 31(2) के उल्लंघन के आधार पर की गई चुनौती को ही निरुद्ध करता है, जबकि अनुच्छेद 31-क भाग III के अन्य प्रावधानों, जैसे अनुच्छेद 14 एवं 19 के उल्लंघन पर आधारित आपत्तियों को भी निषिद्ध करता है। वास्तव में, अनुच्छेद 31-क एवं 31-ख के अधिनियमन का यही कारण था, क्योंकि अनुच्छेद 31(4) में प्रयुक्त अपवर्जन

के शब्द अनुच्छेद 14 के उल्लंघन पर आधारित आपत्तियों को समाहित करने के लिए उपयुक्त नहीं पाए गए। दूसरी ओर, अनुच्छेद 31(4) में उल्लिखित विधि किसी भी प्रकार की संपत्ति के अधिग्रहण को आच्छादित करती है, जबकि अनुच्छेद 31-क केवल एक विशेष प्रकार की संपत्ति, अर्थात् सम्पत्तियों तथा उनमें निहित अधिकारों के अधिग्रहण से संबंधित है, और वर्तमान उद्देश्य के लिए अधिक महत्वपूर्ण यह है कि अनुच्छेद 31(4) में निहित “नॉन ऑब्स्टेंटे” उपबंध संविधान के अन्य सभी प्रावधानों, जिसमें सप्तम अनुसूची की सूचियाँ भी सम्मिलित हैं, पर अधिरोहित होता है, जबकि अनुच्छेद 31-क के अधीन आने वाली कोई विधि केवल “इस भाग के पूर्ववर्ती प्रावधानों” पर ही प्रभावी हो सकती है। अब, ये तीनों विवादित अधिनियम अनुच्छेद 31(4) तथा अनुच्छेद 31-क एवं 31-ख—दोनों के परिधि में आते हैं। फिलहाल बाद के अनुच्छेदों को एक ओर रखते हुए, यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 31(4) के अधीन, इन तीनों विवादित अधिनियमों को किसी भी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती से संरक्षण प्राप्त है कि वे अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों का उल्लंघन करते हैं। ये प्रावधान, जहाँ तक वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिक हैं, यह निर्देशित करते हैं कि—(i) संपत्ति के अधिग्रहण से संबंधित कोई विधि केवल लोक प्रयोजन के लिए ही अधिग्रहण को अधिकृत करे, तथा (ii) ऐसी विधि में प्रतिकर आदि का प्रावधान किया जाए। श्री दास ने, यह स्वीकार करते हुए कि (ii) अनुच्छेद 31(2) का एक “प्रावधान” है, यह तर्क प्रस्तुत किया कि (i) ऐसा प्रावधान नहीं है। उनके अनुसार, खंड (2) यह मानकर चलता है, किन्तु “प्रदान” नहीं करता, कि अधिग्रहण केवल लोक प्रयोजन के लिए ही अधिकृत होना चाहिए। मैं इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता। मेरे मत में, यह खंड लोक प्रयोजन के संबंध में भी एक सीमा निर्धारित करता है। यह खंड जिस प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है, वह स्पष्टतः भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 299(2) से (कुछ अल्प परिवर्तनों सहित) लिया गया है, जिसका उद्देश्य संयुक्त संसदीय समिति की रिपोर्ट के कंडिका 369 में की गई उस अनुशंसा को प्रभावी बनाना था कि निजी संपत्ति के अधिग्रहण पर दो शर्तें लागू की जानी चाहिए—“हमारा

विचार है कि प्रस्तावित प्रावधान यह सुनिश्चित करे कि निजी व्यक्तियों की संपत्ति के अधिग्रहण अथवा अधिग्रहण को अधिकृत करने वाला विधायन तभी वैध होगा जब वह केवल लोक प्रयोजन तक सीमित हो और प्रतिकर का निर्धारण या तो प्रारंभिक स्तर पर या अपील में किसी स्वतंत्र प्राधिकरण द्वारा किया जाए।” इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धारा 299(2) का उद्देश्य दो शर्तों की पूर्ति सुनिश्चित करना था, जिनके अधीन ही निजी संपत्ति के अधिग्रहण को अधिकृत करने वाला विधायन वैध माना जा सकता है, और यह युक्तिसंगत है कि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि अनुच्छेद 31(2) का भी उद्देश्य निजी संपत्ति के अधिग्रहण से संबंधित विधायन पर यही दोनों शर्तें आरोपित करना था। अर्थात्, अनुच्छेद 31(2) को इस रूप में भी समझा जाना चाहिए कि निजी संपत्ति के अधिग्रहण को अधिकृत करने वाला विधायन तभी वैध होगा जब वह लोक प्रयोजन के लिए आवश्यक हो तथा उसमें प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान किया गया हो। वास्तव में, यदि ऐसा न माना जाए तो संविधान में ऐसा कुछ भी नहीं रहेगा जो गैर-लोक या निजी प्रयोजन के लिए तथा बिना प्रतिकर के अधिग्रहण को रोके—जो कि एक असंगत एवं अव्यावहारिक परिणाम होगा। यह मान लेना उचित नहीं है कि संविधान-निर्माताओं ने अधिग्रहणाधिकार के प्रयोग पर स्थापित दो प्रमुख प्रतिबंधों में से एक को तो स्पष्ट रूप से अधिनियमित किया हो और दूसरे को सामान्य विधि से ग्रहण करने के लिए छोड़ दिया हो। अतः अनुच्छेद 31(2) को इस प्रकार समझा जाना चाहिए कि वह दोनों सीमाओं का स्पष्ट रूप से प्रावधान करता है। इन प्रावधानों के उल्लंघन के आधार पर की गई आपत्ति का अभिप्राय यह होता है कि संबंधित विधि लोक प्रयोजन के अभाव में तथा प्रतिकर के भुगतान के बिना अधिग्रहण को अधिकृत करती है। यही आपत्ति श्री दास तथा डॉ. आंबेडकर दोनों द्वारा विवादित अधिनियमों की संवैधानिक वैधता के विरुद्ध उठाई गई थी, और ऐसी आपत्ति वस्तुतः इन विधियों को इस आधार पर चुनौती देने के समान है कि वे अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों का उल्लंघन करती हैं, यद्यपि विद्वान अधिवक्ताओं ने दृढ़तापूर्वक यह अस्वीकार किया कि वे अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों पर निर्भर कर रहे थे। यह अस्वीकार,

मेरे मत में, केवल शब्दों के सूक्ष्म भेद पर आधारित है, जिसमें वस्तुतः कोई वास्तविक अंतर नहीं है। उनका मुख्य आक्षेप वास्तव में उन दो आवश्यक पूर्वापेक्षाओं के अभाव पर आधारित था, जो निजी संपत्ति के अधिग्रहण को अधिकृत करने वाले वैध विधायन के लिए आवश्यक हैं; यद्यपि श्री दास उन्हें सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 से निहित रूप में निकालना चाहते थे, जबकि डॉ. आंबेडकर उन्हें संविधान की भावना से व्युत्पन्न करना चाहते थे। किन्तु यह आपत्ति केवल व्यक्त करने का एक भिन्न तरीका है, जिसका वास्तविक सार यह है कि अधिनियम दोषपूर्ण हैं क्योंकि उनमें लोक प्रयोजन का अभाव है तथा उचित प्रतिकर का प्रावधान नहीं किया गया है। वस्तुतः यही तर्क हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया था। यदि ये दोनों आपत्तियाँ अनुच्छेद 31(4) के क्षेत्र में आती हैं, तो “इस संविधान में निहित किसी भी बात के होते हुए भी” शब्द ऐसे सभी आधारों को निष्कासित करने के लिए पर्याप्त हैं, चाहे वे विधायी सूचियों की प्रविष्टियों से व्युत्पन्न हों या संविधान की भावना से—दोनों ही इन शब्दों के अंतर्गत आच्छादित हैं। वास्तव में, यदि लोक प्रयोजन के अभाव तथा उचित प्रतिकर के प्रावधान के अभाव पर आधारित आपत्ति अभी भी ग्राह्य मानी जाए, तो अनुच्छेद 31(4) निरर्थक एवं अधिशेष हो जाएगा। यह स्पष्ट है कि उक्त खंड विशेष रूप से विवादित अधिनियमों तथा इसी प्रकार के अन्य विधानों को उपर्युक्त आधारों पर न्यायालय में चुनौती से संरक्षण देने के लिए बनाया गया था, और यदि उन्हें फिर भी इस संरक्षण के अंतर्गत न माना जाए, तो अनुच्छेद 31(4) का प्रयोजन समझना कठिन हो जाता है। विद्वान अधिवक्ता भी इस संबंध में कोई संतोषजनक उत्तर प्रस्तुत नहीं कर सके। वास्तविक स्थिति यह है कि अनुच्छेद 31(4) का उद्देश्य न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र को इस प्रकार सीमित करना था कि वे उपर्युक्त द्विविध आधारों—लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर के अभाव—पर आधारित आपत्तियों पर विचार न कर सकें, और यदि जर्मीदारों का तर्क स्वीकार कर लिया जाए, तो इस प्रावधान का संपूर्ण उद्देश्य विफल हो जाएगा।

यद्यपि यह मान लिया जाए कि न्यायालय के लिए इन आपत्तियों पर विचार करना संभव है, तब भी मेरे मत में ये अस्थिर हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, अनुच्छेद 31-क, अनुच्छेद 31(2) को अनुच्छेद 13 के साथ पढ़ने पर एक अपवाद के रूप में कार्य करता है, परंतु केवल उन विधियों के संबंध में जो "सम्पत्तियों" तथा उनमें निहित अधिकारों के अधिग्रहण को अधिकृत करती हैं, और यह अपवाद संविधान के प्रारंभ से ही उसका अंग माना जाएगा। किन्तु इसका प्रयोग अन्य प्रकार की संपत्तियों के अधिग्रहण को अधिकृत करने वाली विधियों पर नहीं होता, और ऐसे मामलों में लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर के भुगतान की आवश्यकताएँ अनुच्छेद 31(2) के स्पष्ट प्रावधानों द्वारा अब भी लागू रहती हैं। राज्य की अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति पर इस प्रकार की सीमाएँ, जो संविधान के मूल भाग में निहित हैं और जिनसे केवल "सम्पत्तियाँ" ही अपवर्जित हैं, के होते हुए, मेरे विचार में यह विधि-व्याख्या के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल होगा कि इन्हीं सीमाओं को निहित रूप से सूची II की प्रविष्टि 36 में, चाहे अकेले या सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ मिलाकर, या "संविधान की भावना" से निष्कर्षित कर पढ़ा जाए—और वह भी उन्हीं संपत्तियों के संबंध में जो स्पष्टतः अपवर्जित की गई हैं।

यह सत्य है कि अधिग्रहणाधिकार के सामान्य विधि सिद्धांत के अनुसार, जो सभी सभ्य देशों के न्यायशास्त्र में मान्य है, राज्य अपने प्रजा की संपत्ति तब तक अधिग्रहित नहीं कर सकता जब तक वह लोक प्रयोजन के लिए आवश्यक न हो और उसके स्वामी को उसके नुकसान का प्रतिकर न दिया जाए। किन्तु, जब ये सीमाएँ स्पष्ट रूप से विनिर्दिष्ट कर दी गई हों और यह भी अधिनियमित कर दिया गया हो कि ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जाएगी जो इन सुरक्षा उपायों को छीनती या सीमित करती हो, और यदि ऐसी कोई विधि बनाई जाती है तो वह शून्य होगी, तब किसी निहितार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रहता, और "संपत्ति का अधिग्रहण" शब्दों को उनके स्वाभाविक अर्थ में ही समझा जाना चाहिए, अर्थात् संपत्ति को प्राप्त करने की क्रिया के रूप में, बिना इसमें प्रतिकर देने का दायित्व या लोक प्रयोजन की

शर्त को निहित किए। सप्तम अनुसूची की सूचियों की प्रविष्टियाँ संघ एवं राज्य विधायिकाओं की विधायी क्षमता के क्षेत्रों को परिभाषित एवं सीमित करने के लिए निर्मित की गई हैं, और ऐसे संदर्भ में विधायी शक्तियों के प्रयोग पर निहित प्रतिबंध आरोपित करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे प्रतिबंध सामान्यतः संविधान के मूल भाग में स्पष्ट रूप से अधिनियमित किए जाने वाले विषय होते हैं।

अनुच्छेद 31 में ही ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि सूची II की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त "संपत्ति का अधिग्रहण" अभिव्यक्ति अपने आप में प्रतिकर के भुगतान का कोई दायित्व वहन नहीं करती। इस अनुच्छेद का खंड (4) ऐसी "विधि" की कल्पना करता है जो संपत्ति के अधिग्रहण को अधिकृत करती हो, किन्तु खंड (2) के प्रावधानों का उल्लंघन करती हो, अर्थात् बिना लोक प्रयोजन या प्रतिकर के भुगतान के। इसी प्रकार, खंड (5)(ख), जो कुछ श्रेणियों की "विधियों" को खंड (2) के प्रभाव से अपवर्जित करता है, ऐसी विधियों की परिकल्पना करता है जो बिना लोक प्रयोजन या प्रतिकर के बनाई जा सकती हैं। ऐसी विधियाँ केवल राज्य विधायिका द्वारा प्रविष्टि 36 के अंतर्गत ही बनाई जा सकती हैं; अतः यह माना जाना चाहिए कि उक्त प्रविष्टि ऐसी विधायी शक्ति प्रदान करती है जो किसी निहित प्रतिबंध से आबद्ध नहीं है। यह सुझाव दिया गया कि खंड (5) के उपखंड (ख) में उल्लिखित विधियाँ, क्रमशः राज्य की कराधान शक्ति अथवा पुलिस शक्ति के प्रयोग में बनाई गई विधियाँ हैं, और यह उपखंड केवल अत्यधिक सावधानीवश जोड़ा गया है। यह उत्तर संतोषजनक प्रतीत नहीं होता। कराधान संबंधी विधि की स्थिति जो भी हो, विधायी शक्ति के स्रोत के संदर्भ में, उपखंड (ख) के शीर्ष (2) एवं (3) के अंतर्गत आने वाली विधियाँ, जहाँ तक वे किसी संपत्ति के अधिग्रहण को अधिकृत करती हैं, अनिवार्यतः सूची II की प्रविष्टि 36 के अधीन ही आती हैं और उसी से अपनी विधायी क्षमता प्राप्त करती हैं, क्योंकि राज्य की पुलिस शक्ति केवल निजी अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के प्रयोग को समुदाय के हित में विनियमित एवं नियंत्रित करने

की सामान्य शक्ति है और यह किसी विशिष्ट विधायी प्रविष्टि का प्रतिनिधित्व नहीं करती। और यह तर्क तो श्री दास के लिए खंड (4) के संबंध में भी उपलब्ध नहीं है।

सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 को एक साथ पढ़ने से भी जमींदारों की स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। यह तर्क दिया गया कि “सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन” शब्दों का अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधि बनाने की शक्ति का प्रयोग केवल उन दो शर्तों—लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर के भुगतान—के अधीन ही किया जा सकता है, जिनका उल्लेख प्रविष्टि 42 में किया गया है। मेरे मत में, इन शब्दों का अर्थ इससे अधिक नहीं है कि राज्य विधायिका द्वारा प्रविष्टि 36 के अंतर्गत बनाई गई कोई भी विधि, संघ विधायिका द्वारा सूची III की प्रविष्टि 42 के अधीन बनाई गई विधि द्वारा प्रतिस्थापित या अधिरोहित की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि उक्त शब्दों की वह व्याख्या, जो श्री दास द्वारा प्रस्तुत की गई है, स्वीकार्य नहीं हो सकती, क्योंकि इसी प्रकार के शब्द सूची I की प्रविष्टि 33 में नहीं पाए जाते, जो संसद को संघ के प्रयोजनों के लिए संपत्ति के अधिग्रहण या अधिप्राप्ति संबंधी विधि बनाने की शक्ति प्रदान करती है। यदि लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर के भुगतान से संबंधित सीमितकारी शर्तें केवल उन्हीं शब्दों से व्युत्पन्न मानी जाएँ, तो इसका परिणाम यह होगा कि प्रविष्टि 33 में ऐसे शब्दों के अभाव में संसद ऐसी विधियाँ बना सकती है जो बिना लोक प्रयोजन तथा बिना प्रतिकर के अधिग्रहण या अधिप्राप्ति को अधिकृत करें। यह नहीं बताया गया कि संपत्ति के अधिग्रहण या अधिप्राप्ति के संबंध में संसदीय विधायन इन सीमितकारी शर्तों से मुक्त क्यों हो, जबकि राज्य विधायन उनके अधीन माना जाए। तथ्य यह है कि संसद तथा राज्य विधानमंडलों दोनों की विधि-निर्माण शक्ति का प्रयोग केवल उपर्युक्त दो प्रतिबंधों के अधीन ही किया जा सकता है, न कि स्वयं प्रविष्टियों में निहित किसी बात के कारण, बल्कि अनुच्छेद 31 (2) के सकारात्मक उपबंधों के कारण, और चूँकि अनुच्छेद 31 (4) के अंतर्गत या अनुच्छेद 31-ए तथा 31-बी के अंतर्गत आने वाली विधियों को उन उपबंधों के अनुपालन न होने के आधार पर विधि के न्यायालय में चुनौती

नहीं दी जा सकती, अतः ऐसी विधियों को असंवैधानिक तथा शून्य घोषित कर निरस्त नहीं किया जा सकता।

यह भी तर्क दिया गया कि सूची III की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधि बनाने की शक्ति एक कर्तव्य से संबद्ध शक्ति थी, क्योंकि ऐसी विधि स्पष्टतः संपत्ति से वंचित किए गए स्वामियों के लाभ के लिए अभिप्रेत थी, और जहाँ विधानमंडल ने ऐसे संपत्ति-हरण को अधिकृत किया है, वहाँ वह ऐसी विधि बनाने की शक्ति का प्रयोग करने के लिए भी बाध्य था जो उन सिद्धांतों को निर्धारित करे जिनके आधार पर ऐसे स्वामियों को उनकी हानि के लिए प्रतिकर दिया जाना चाहिए। इस कुछ नवीन तर्क के समर्थन में प्रसिद्ध वाद *जूलियस बनाम ऑक्सफोर्ड के बिशप*⁽¹⁾ पर अवलंबन किया गया। हालाँकि, उस मामले का यहाँ कोई अनुप्रयोग नहीं है। यद्यपि कुछ शक्तियाँ इस उद्देश्य से प्रदान की जाती हैं कि उनका प्रयोग कुछ व्यक्तियों के हित में किया जाए, जिन्हें उनके प्रयोग से लाभ पहुँचाना अभिप्रेत होता है, और इस कारण उन्हें ऐसी शक्तियाँ माना जा सकता है जो एक कर्तव्य से संबद्ध हों—अर्थात् जब उनके प्रयोग का उपयुक्त अवसर उत्पन्न हो तो उनका प्रयोग किया जाना चाहिए—किन्तु किसी विषय के संबंध में विधि बनाने के लिए विधायिका को प्रदान की गई शक्ति को उस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यह कदापि अभिप्रेत नहीं हो सकता कि विधायिका उस शक्ति का प्रयोग कर विधि बनाने के लिए बाध्य हो, क्योंकि इस प्रकार के किसी दायित्व को न्यायालय द्वारा किसी विधायी निकाय के विरुद्ध प्रवर्तित नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 31 के खंड (3) पर आधारित श्री सोमैया का तर्क, जिसका पूर्व में उल्लेख किया गया है, समान रूप से अस्थिर है। यह सत्य है कि किसी राज्य की “विधायिका” में राज्यपाल भी सम्मिलित होता है तथा ऐसी विधायिका द्वारा पारित कोई विधेयक तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक उसे राज्यपाल की स्वीकृति प्राप्त न हो जाए। तथापि, अनुच्छेद 200 यह परिकल्पना करता है कि जब किसी विधेयक को विधानमंडल के सदन

(1) एल.आर 5 एच.एल.214.

अथवा सदनों द्वारा पारित किए जाने के पश्चात राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तब राज्यपाल निम्नलिखित तीन में से किसी एक मार्ग को अपना सकता है—(1) अपनी स्वीकृति प्रदान करना, (2) स्वीकृति रोक लेना, अथवा (3) विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना। उस अनुच्छेद का प्रथम उपबंध उस स्थिति से संबंधित है जहाँ राज्यपाल स्वीकृति देने के लिए बाध्य होता है, और उसका यहाँ कोई संबंध नहीं है। द्वितीय उपबंध उस स्थिति में आरक्षण को अनिवार्य बनाता है जहाँ वह विधेयक, “यदि वह विधि बन जाए”, उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम कर दे अथवा उनका अतिक्रमण करे। किन्तु यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि ऐसा आरक्षण राज्यपाल द्वारा स्वयं उस विधेयक को स्वीकृति दिए बिना किया जाना चाहिए। यह महत्वपूर्ण है कि अनुच्छेद इस बात की परिकल्पना नहीं करता कि राज्यपाल पहले अपनी स्वीकृति प्रदान करे और तत्पश्चात, जब वह विधेयक पूर्ण विधि बन जाए, उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे। वास्तव में, जहाँ ऐसा आरक्षण करना राज्यपाल के लिए अनिवार्य हो, वहाँ उसे अपनी स्वीकृति देने से निषिद्ध किया गया है। अतः संविधान की योजना से यह प्रतीत होता है कि केवल वे “विधेयक”, जो विधानमंडल के सदन अथवा सदनों द्वारा पारित किए गए हों, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे जा सकते हैं; न कि वे “विधियाँ”, जिन्हें राज्यपाल पहले ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुका हो। यह कहा गया कि अनुच्छेद 31(3) एक विशेष सुरक्षा प्रदान करता है, जो यह सुनिश्चित करने के लिए कि कोई जल्दबाजी में या अन्यायपूर्ण अधिग्रहण संबंधी विधान किसी राज्य की विधायिका द्वारा पारित न किया जाए, ऐसे विधान के लिए राज्यपाल और राष्ट्रपति — दोनों की स्वीकृति आवश्यक बनाता है, और, इसे स्पष्ट करने के लिए, “विधि” और “विधायिका” शब्दों का जानबूझकर उपधारा (3) में प्रयोग किया गया। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत होने में असमर्थ हूँ। “विधायिका” शब्द का संविधान में हमेशा ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है कि उसमें राज्यपाल सम्मिलित हों, यद्यपि अनुच्छेद 168 उन्हें राज्य की विधायिका का एक घटक भाग बनाता है। अनुच्छेद 173 में, उदाहरण के लिए, यह शब्द स्पष्ट रूप से “विधायिका के सदनों”

के अर्थ में प्रयोग किया गया है और राज्यपाल को बाहर रखता है। अन्य प्रावधान भी हैं जहाँ यह शब्द ऐसे संदर्भों में प्रयोग किया गया है जो राज्यपाल को बाहर रखते हैं। इसी प्रकार "विधि" शब्द का भी कभी-कभी ढीले अर्थ में किसी विधेयक के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 31(4), "विधेयक" के राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे जाने की बात करता है "जब वह राज्य की विधायिका द्वारा पारित हो चुका हो" और "इस प्रकार स्वीकृत विधि" की बात करता है। यदि "विधायिका द्वारा पारित" अभिव्यक्ति का अर्थ "विधायिका के सदनों द्वारा पारित और राज्यपाल द्वारा स्वीकृत" लिया जाए, जैसा कि श्री सोमैया चाहते हैं कि इसे समझा जाए, तब वह "विधेयक" रहेगा ही नहीं और उसे उस रूप में आगे सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा। और न ही "इस प्रकार स्वीकृत विधि" वाक्यांश पूर्णतः शुद्ध है, क्योंकि उपधारा का पूर्ववर्ती भाग यह स्पष्ट करता है कि जो राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखा जाता है और जिस पर वे स्वीकृति देते हैं, वह एक "विधेयक" है, न कि कोई विधि। यह वाक्यांश स्पष्टतः उस वस्तु की ओर संकेत करता है जो राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद विधि बन चुकी है। इसी प्रकार, मेरे विचार में अनुच्छेद 31(3) को भी ऐसा समझा जाना चाहिए कि उसका संबंध उस वस्तु से है, जो ऐतिहासिक क्रम में, राज्य की विधायिका के सदन या सदनों द्वारा पारित किए जाने के बाद, राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखी गई और बाद में राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत की गई, और इस प्रकार विधि बन गई। यदि यह आशय होता कि ऐसी विधि को राज्यपाल और राष्ट्रपति—दोनों की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए, तो अपेक्षा की जाती कि न केवल इस आशय का कोई अधिक स्पष्ट या प्रत्यक्ष प्रावधान मिलता, बल्कि अनुच्छेद 200 में भी राज्यपाल की उस शक्ति का कोई उल्लेख होता जिसके द्वारा वह स्वयं स्वीकृति देने के बाद किसी उपाय को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सके। दूसरी ओर, जैसा कि हमने देखा है, जहाँ राज्यपाल द्वारा आरक्षण करना अनिवार्य बनाया गया है, वहाँ उन्हें अपनी स्वीकृति देने से निषिद्ध किया गया है।

मेरे द्वारा ऊपर व्यक्त किए गए इस दृष्टिकोण में कि लोक प्रयोजन के अभाव तथा उचित प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान न किए जाने पर आधारित आपत्तियाँ अनुच्छेद 31(4) के अधीन वर्जित हैं और साथ ही गुण-दोष के आधार पर भी निराधार हैं, यह विचार करना अनावश्यक हो जाता है कि लोक प्रयोजन क्या है और क्या विवादित अधिनियमों द्वारा अधिकृत अधिग्रहण किसी लोक प्रयोजन की पूर्ति करता है। इसी प्रकार यह परीक्षण करना भी आवश्यक नहीं है कि इन अधिनियमों द्वारा प्रदान की गई प्रतिकर योजना इतनी मिथ्या या आभासी है कि उससे अधिग्रहित संपत्ति के स्वामियों को उनकी संपत्ति की हानि के लिए कोई वास्तविक प्रतिकर ही प्राप्त न हो।

अब उन विशेष बिंदुओं की ओर आते हुए जो विशेष मामलों में उत्पन्न हुए हैं, श्री दास द्वारा यह तर्क दिया गया कि बिहार अधिनियम की धारा 4(ब), जो यह प्रावधान करती है कि सम्पदाओं के सरकार में निहित होने की तिथि से पूर्व की किसी भी अवधि के लिए देय किराए, अधिकार शुल्क तथा उपकरणों के सभी बकाए "राज्य में निहित होंगे और राज्य द्वारा वसूल किए जा सकेंगे", असंवैधानिक और शून्य है। प्रथम, ऐसी संपत्ति के अधिग्रहण से कोई लोक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता था। स्पष्टतः सरकार के पास अधिनियम में प्रदत्त उस आभासी प्रतिकर के भुगतान के लिए भी पर्याप्त धन नहीं था, और इसलिए उसने इस उपाय का सहारा लिया कि इन बकायों का अधिग्रहण उनकी कीमत के केवल 50 प्रतिशत के भुगतान पर कर लिया जाए, जैसा कि धारा 24 में प्रावधान किया गया है। राजकोष की वृद्धि के लिए धन एकत्र करना ऐसा लोक प्रयोजन नहीं माना जा सकता था जो निजी संपत्ति के अधिग्रहण को उचित ठहरा सके। दूसरे, यह कहा गया कि ये "बकाये" वसूल किए जाने पर धनराशि का रूप ले लेंगे, और धन को अनिवार्य अधिग्रहण का विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि प्रतिकर देने का दायित्व व्यवहारतः ऐसे अधिग्रहण को एक बाध्यकारी ऋण में परिवर्तित कर देगा। और न ही बकायों के अंकित मूल्य के 50 प्रतिशत के भुगतान को समस्त बकायों की हानि के लिए प्रतिकर माना जा सकता था, क्योंकि ले ली गई धनराशि के

आधे भाग की वापसी कभी भी शेष आधे भाग की हानि की पूर्ति नहीं कर सकती। वास्तव में, यह तर्क सुनकर लगभग यह आश्चर्य होता है कि जमींदार उस प्रावधान को निरस्त करवाने का प्रयास करके कौन-सा लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि वह प्रावधान उनके लिए लाभकारी भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु स्थिति चाहे जो भी हो, पहले से बताए गए कारणों के आधार पर, अनुच्छेद 31(4) इन दोनों आधारों पर चुनौती को निषिद्ध करता है, और धारा 4(ब) के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों पर विचार नहीं किया जा सकता।

धारा 23(1)(फ) के विरुद्ध भी एक आपत्ति उठाई गई, जो यह प्रावधान करती है कि प्रतिकर निर्धारित करने के आधारस्वरूप शुद्ध संपत्तियों का निर्धारण करते समय, सकल संपत्तियों में से "ऐसी सम्पदा या धारिता के रैयतों के लाभ के कार्यों की लागत" के रूप में प्रतिशत के आधार पर कटौती की जाएगी। यह कहा गया कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जिससे यह प्रदर्शित हो कि जमींदारों द्वारा सामान्यतः ऐसा व्यय किया जाता था, और यह कटौती मात्र एक युक्ति थी जिसका उद्देश्य उनकी सम्पदाओं के अधिग्रहण के लिए देय प्रतिकर को कम करना था। इसलिए ऐसी कटौती का प्रावधान संविधान के साथ छल था। किन्तु यह तर्क उस सुस्थापित दायित्व की उपेक्षा करता है जिसके अनुसार जमींदारों पर अपनी सम्पदाओं में सम्मिलित गाँवों के सिंचाई टैंकों और नहरों के रख-रखाव तथा मरम्मत का दायित्व होता है। जैसा कि प्रिवी काउंसिल ने *मद्रास रेलवे कंपनी बनाम कार्वेटनगरम*⁽¹⁾ के जमींदार में कहा था, "जमींदारों को इन टैंकों को समाप्त करने की कोई शक्ति नहीं है, जिनके रख-रखाव में बड़ी संख्या में लोगों की रुचि जुड़ी हुई है, बल्कि भारतीय विधि के अधीन, अपनी धारिता के कारण, वे इनके संरक्षण और मरम्मत के कर्तव्य से बंधे हुए हैं।"

स्पष्टतः ये कार्य सम्पदा के रैयतों के लाभ के कार्य हैं, और उनकी लागत, जिसे वहन करने के लिए जमींदार इस प्रकार बाध्य हैं, सम्पदा की शुद्ध संपत्तियों की गणना में पूर्णतः वैध कटौती है। यदि जमींदारों ने अतीत में इस कर्तव्य की उपेक्षा की हो, तो उससे उन्हें देय प्रतिकर का निर्धारण करने से पूर्व की गई कटौती की उचितता प्रभावित नहीं होती। अतः यह

(1) (1874) 1 आई.ए 364.

कहना निरर्थक है कि यह केवल प्रतिकर को कम करने की एक युक्ति मात्र है। इसके अतिरिक्त, यदि, जैसा कि मैंने दर्शाने का प्रयास किया है, विवादित अधिनियमों के मामले में प्रतिकर का भुगतान अनुच्छेद 31(4), 31-क तथा 31-ख को ध्यान में रखते हुए न्यायिक विचारण का विषय नहीं है, तो न्यायालय के लिए यह जांच करना खुला नहीं है कि ऐसी कटौती, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिकर कम हो जाता है, अनुचित है और इसलिए संविधान के साथ छल है। अंत में, श्री दास ने अपना आक्रमण धारा 32(2) पर, जिसे धारा 43(2)(प) के साथ पढ़ा जाना है, केंद्रित किया। पूर्ववर्ती प्रावधान के अधीन प्रतिकर नकद में या बांडों में अथवा आंशिक रूप से नकद और आंशिक रूप से बांडों में देय था। बांड या तो परक्राम्य होते या अपरक्राम्य तथा अहस्तांतरणीय, और वे चालीस समान किस्तों में देय थे। धारा 43(2) (प) के अधीन राज्य सरकार को यह शक्ति प्रदान की गई थी कि वह ऐसे नियम बनाए जो "उस अनुपात का प्रावधान करें जिसमें प्रतिकर नकद और बांडों में देय होगा तथा ऐसे प्रतिकर के भुगतान की रीति" निर्धारित करें। यह तर्क दिया गया कि, जबकि संविधान ने सूची III की प्रविष्टि 42 के अधीन विधायिकाओं को ऐसी विधियाँ बनाने की शक्ति प्रदान की है जो अधिग्रहित संपत्ति के प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों तथा उस प्रतिकर को दिए जाने के स्वरूप और रीति से संबंधित हों, बिहार विधायिका के लिए यह सक्षम नहीं था कि वह इस आवश्यक विधायी शक्ति को कार्यपालिका सरकार को प्रत्यायोजित कर दे। अतः धारा 43(2) (प) शून्य और अप्रवर्तनीय होने के कारण, धारा 32(2) भी स्वतः निरस्त हो जानी चाहिए, क्योंकि वह अस्पष्ट है और अपने आप में प्रभावी रूप से लागू किए जाने में असमर्थ है, और चूँकि प्रतिकर का भुगतान अधिनियम के अधीन अधिग्रहण की योजना का एक अविभाज्य भाग था, इसलिए पूरा अधिनियम ही समाप्त हो जाना चाहिए। मुझे इस तर्क में कोई बल दिखाई नहीं देता। विधायिका ने उस स्वरूप पर अपना विचार किया है जिसमें प्रतिकर का भुगतान किया जाना है और उसने समान किस्तों की संख्या भी निर्धारित कर दी है जिनमें उसका भुगतान किया जाना चाहिए। उसने इस बीच प्रतिकर की राशि पर ब्याज के भुगतान का भी प्रावधान किया है। जिस अनुपात में प्रतिकर नकद और बांडों में दिया जा सकता है तथा किस्तों के बीच का अंतराल क्या होगा, यह कार्यपालिका सरकार द्वारा निर्धारित किए जाने के लिए छोड़ा गया है, क्योंकि ये बातें आवश्यक रूप से राज्य के वित्तीय संसाधनों और धन की उपलब्धता पर निर्भर करती हैं, जिनके संबंध में केवल कार्यपालिका सरकार के पास विशेष जानकारी के साधन हो सकते हैं। अनुमेय प्रत्यायोजन के किसी भी मानदंड के अनुसार, किसी प्रशासनिक निकाय में इस प्रकार के सीमित विवेकाधिकार को विधायिका द्वारा निहित किया जाना अक्षम नहीं ठहराया जा सकता। यही टिप्पणी अन्य दो अधिनियमों के

अधीन प्रतिकर के भुगतान के संबंध में नियम बनाने की शक्तियों के प्रत्यायोजन पर भी लागू होती है।

श्री सोमैया द्वारा यह तर्क दिया गया कि मध्य प्रदेश अधिनियम विधिपूर्वक पारित नहीं किया गया था, क्योंकि विधेयक के तृतीय वाचन के समय, यह प्रस्ताव कि उसे विधि के रूप में पारित किया जाए, उस पर अध्यक्ष द्वारा कोई प्रश्न प्रस्तुत नहीं किया गया, जबकि उस समय प्रभावी विधायी कार्य संचालन नियमों के नियम 20(1) के प्रावधानों के अनुसार ऐसा किया जाना आवश्यक था, और यह कि यह चूक मात्र "प्रक्रिया की अनियमितता" नहीं थी, जिसकी जाँच करने से न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 212(1) के अधीन रोका गया है। नियम 20(1) इस प्रकार है:

"ऐसा कोई विषय जिसके लिए विधानसभा के निर्णय की आवश्यकता हो, उसका निर्णय किसी सदस्य द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव पर अध्यक्ष द्वारा प्रश्न रखे जाने के माध्यम से किया जाएगा।"

जो प्रतीत होता है कि हुआ, वह यह है। मंत्रियों में से एक ने यह प्रस्ताव रखा कि "सी. पी. और बरार स्वामित्व अधिकार उन्मूलन (सम्पदाएँ, महाल, प्रदत्त भूमियाँ) विधेयक, 1949, (संख्या 64 सन् 1949), जैसा कि सदन द्वारा विचारित किया गया है, विधि के रूप में पारित किया जाए।" इसके पश्चात अध्यक्ष ने उस प्रस्ताव को सदन के समक्ष पढ़ा, और इसके बाद अनेक भाषण हुए जिनमें इस उपाय का स्वागत किया गया, तथा सदन में सामान्य प्रशंसा के वातावरण के बीच इसे भूमि जोतने वालों के लिए एक महान वरदान बताया गया। किन्तु नियम 115(1) के अधीन सचिव द्वारा तैयार किए गए कार्यवाहियों के आधिकारिक प्रतिवेदन में यह अभिलिखित नहीं था कि अध्यक्ष ने सामान्य रूप में यह प्रश्न रखा — "प्रश्न यह है आदि" — और यह कि प्रस्ताव पारित कर दिया गया। यह तर्क दिया गया कि चूँकि आधिकारिक प्रतिवेदन ही नियम 115(2) के अधीन "विधानसभा की कार्यवाहियों का एकमात्र प्रामाणिक अभिलेख" है, इसलिए यह निर्णायक रूप से स्थापित माना जाना चाहिए कि प्रस्ताव सदन के समक्ष रखा ही नहीं गया और न ही उसके द्वारा पारित किया गया। मेरे विचार में इस आपत्ति में कोई सार नहीं है। अध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षरित और प्रमाणित मूल विधेयक हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया था, और उसमें अध्यक्ष द्वारा यह अभिलेखित है कि विधेयक 5 अप्रैल, 1950 को विधानसभा द्वारा पारित किया गया था। यह अभिलेखन अध्यक्ष द्वारा 10 मई, 1950 को हस्ताक्षरित किया गया था। कार्यवाहियों का आधिकारिक प्रतिवेदन प्रतीत होता है कि 21 जून, 1950 को तैयार

किया गया था, और उस पर अध्यक्ष ने 1 अक्टूबर, 1950 को हस्ताक्षर किए। जब उन्होंने उस प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर किए, तब स्पष्टतः उन्होंने इस चूक पर ध्यान नहीं दिया कि प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था और पारित किया गया था। ऐसी चूक को, विधेयक पर अध्यक्ष द्वारा किए गए स्पष्ट अभिलेखन के होते हुए, इस बात की स्थापना करने वाला नहीं माना जा सकता कि विधेयक सदन के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था और उसके द्वारा पारित नहीं किया गया था। किसी भी स्थिति में, प्रस्ताव को औपचारिक रूप से सदन के समक्ष प्रस्तुत न करना, यदि यह सत्य भी माना जाए, तो परिस्थितियों में मात्र प्रक्रिया की एक साधारण अनियमितता से अधिक नहीं था, क्योंकि यह विवादित नहीं है कि उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का अत्यधिक बहुमत प्रस्ताव को पारित करने के पक्ष में था और वास्तव में कोई भी विरोधी स्वर उठाया नहीं गया था।

श्री सोमैया ने एक और तर्क प्रस्तुत किया कि मध्य प्रदेश अधिनियम के अंतर्गत आने वाली मालगुजारी भूमियों के संबंध में अनुच्छेद 31-क और 31-ख सरकार की कोई सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसी भूमियाँ अनुच्छेद 31-क की उपधारा (2) के अर्थ में "सम्पदाएँ" नहीं हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिकर के भुगतान के विषय में भेदभाव से संबंधित अनुच्छेद 14 पर आधारित आपत्ति को स्वीकार किया जाना चाहिए। यह स्मरण किया जाएगा कि पटना उच्च न्यायालय ने बिहार अधिनियम को प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान करने में भेदभावपूर्ण मानते हुए असंवैधानिक घोषित किया था, और उसी कठिनाई को दूर करने के लिए संविधान में अनुच्छेद 31-क और 31-ख जोड़े गए थे। मध्य प्रदेश के महाधिवक्ता ने यह स्वीकार किया कि ये मालगुजारी भूमियाँ मध्य प्रदेश में प्रचलित काश्तकारी अधिनियमों के साथ पढ़े जाने पर अनुच्छेद 31-क के अर्थ में सम्पदाएँ नहीं मानी जा सकतीं, किन्तु उन्होंने यह तर्क दिया कि, चूँकि अनुच्छेद 31-ख विशेष रूप से अन्य अधिनियमों के साथ-साथ मध्य प्रदेश अधिनियम को भी वैध ठहराने का प्रयत्न करता है, और चूँकि वह अनुच्छेद अपने प्रयोग में केवल सम्पदाओं तक सीमित नहीं है, इसलिए यह आपत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। किन्तु श्री सोमैया ने यह प्रस्तुत किया कि अनुच्छेद 31-ख के प्रारंभिक शब्द, अर्थात् "अनुच्छेद 31-क में निहित प्रावधानों की व्यापकता को प्रभावित किए बिना", यह दर्शाते हैं कि अनुच्छेद 31-ख में नवम अनुसूची के साथ जिन विशेष अधिनियमों का उल्लेख किया गया है, वह केवल उदाहरणस्वरूप है, और इसलिए अनुच्छेद 31-ख का क्षेत्र उससे अधिक व्यापक नहीं हो सकता। इस तर्क के समर्थन में प्रिवी काउंसिल के *सिबनाथ बनर्जी का मामला*⁽¹⁾ के निर्णय पर अवलंबन किया गया। मैं इस

(1) [1945] एफ.सी.आर 195 (पी.सी)

दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकता। अनुच्छेद 31-ख में ऐसा कुछ भी नहीं है जो यह संकेत दे कि कुछ विशेष अधिनियमों का विशिष्ट उल्लेख केवल अनुच्छेद 31-क के सामान्य शब्दों के प्रयोग को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया गया था। अनुच्छेद 31-ख के प्रारंभिक शब्दों का उद्देश्य केवल यह स्पष्ट करना है कि अनुच्छेद 31-क का प्रयोग, अनुच्छेद 31-ख में निहित किसी बात के कारण, सीमित नहीं किया जाना चाहिए, और वे किसी भी प्रकार से बाद वाले अनुच्छेद अथवा उसमें उल्लिखित अधिनियमों के प्रयोग को "सम्पदाओं" के अधिग्रहण तक सीमित करने के लिए नहीं बनाए गए हैं। उद्धृत निर्णय इस विषय में कोई उपयोगी समानता प्रदान नहीं करता।

कुछ मामलों में जिन सम्पदाओं का अधिग्रहण किया जाना प्रस्तावित है, वे उन क्षेत्रों में स्थित हैं जो पहले भारतीय रियासतों के क्षेत्र थे और उनके पूर्व शासकों के स्वामित्व में थे। उन रियासतों के, परिस्थिति के अनुसार, मध्य प्रदेश या उत्तर प्रदेश में विलय होने पर, शासकों और भारत सरकार के बीच संपन्न "विलय संधि" के आधार पर, प्रश्नगत संपत्तियों को शासकों की "निजी संपत्ति" के रूप में मान्यता दी गई थी। इन मामलों में यह तर्क दिया गया कि जिन सम्पदाओं का अधिग्रहण किया जाना प्रस्तावित है, वे शासकों के उन "व्यक्तिगत अधिकारों" का भाग थीं जिनकी गारंटी विलय-पत्र के अधीन उन्हें दी गई थी, और यह कि न तो विवादित अधिनियम और न ही उनके अधीन जारी अधिसूचनाएँ, अनुच्छेद 362 के उल्लंघन में, शासकों को ऐसी संपत्तियों से वंचित कर सकती हैं। महान्यायवादी के पास इस तर्क के कई उत्तर थे, जिनमें अनुच्छेद 363 के अधीन वह निषेध भी सम्मिलित था जो भारतीय रियासतों के शासकों और भारत सरकार के मध्य हुए समझौतों, संधियों आदि से उत्पन्न विवादों में न्यायालयों के हस्तक्षेप को रोकता है। किन्तु इसका एक संक्षिप्त और स्पष्ट उत्तर यह है कि विलय संधि के अधीन सरकार द्वारा दी गई किसी गारंटी या आश्वासन का कोई उल्लंघन नहीं हुआ, क्योंकि प्रश्नगत सम्पदाओं का अधिग्रहण केवल शासकों की "निजी संपत्ति" के रूप में ही किया जाना प्रस्तावित है और किसी अन्य रूप में नहीं। जो प्रतिकर प्रदान किया गया है, जैसा भी वह है, वह उनकी निजी स्वामित्व की मान्यता में दिया गया है, ठीक वैसे ही जैसे किसी अन्य स्वामी के मामले में। अतः इस आपत्ति में कोई बल नहीं है। सन् 1951 की अपील संख्या 285 में, जिसे कपूरथला के राजा द्वारा प्रस्तुत किया गया था, जहाँ इसी प्रकार की आपत्ति उठाई गई थी, यह भी आरोप लगाया गया कि शासक की प्रिवी पर्स राशि कम निर्धारित की गई थी इस विचार से कि अवध सम्पदा को उनकी निजी संपत्ति के रूप में उनके उपभोग के लिए छोड़ दिया जाएगा, और उसका अनिवार्य अधिग्रहण

उन्हें अपने परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के दायित्व का निर्वहन करने के साधनों से वंचित कर देगा। तथ्यों को स्थापित करने के लिए किसी सामग्री के अभाव में, यह आरोप किसी विचार के योग्य नहीं है।

कुछ अन्य गौण बिंदु भी कुछ मामलों में उठाए गए थे, किन्तु वे उल्लेख के योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे या तो किसी गलत समझ पर आधारित थे अथवा प्रत्यक्षतः असंगत थे।

अतः बिहार अधिनियम, मध्य प्रदेश अधिनियम और उत्तर प्रदेश अधिनियम अथवा उनके किसी भाग की संवैधानिक वैधता के विरुद्ध उठाई गई सभी आपत्तियाँ असफल होती हैं और निरस्त की जाती हैं।

महाजन न्यायमूर्ति—यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 132(3) के अधीन एक अपील है, जो पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ द्वारा 12 मार्च, 1951 को दिए गए निर्णय के विरुद्ध प्रस्तुत की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 को संविधान के अनुच्छेद 14 के उल्लंघन के आधार पर अधिकारातीत घोषित किया, किन्तु अन्य सभी बिंदुओं पर उत्तरदाता के विरुद्ध निर्णय दिया।

30 दिसम्बर, 1949 को "बिहार भूमि सुधार विधेयक" नामक एक विधेयक बिहार की विधान सभा में प्रस्तुत किया गया और विधायिका के दोनों सदनों द्वारा पारित किया गया, तथा भारत के राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे जाने के पश्चात् उसे 11 सितम्बर, 1950 को उनकी स्वीकृति प्राप्त हुई। यह अधिनियम 25 सितम्बर, 1950 को बिहार सरकार के राजपत्र में प्रकाशित किया गया, और उसी दिन अधिनियम की धारा 1(3) के अधीन एक अधिसूचना प्रकाशित की गई, जिसमें यह घोषित किया गया कि अधिनियम तत्काल प्रभाव से लागू होगा। उसी दिन अधिनियम की धारा 3 के अधीन एक अधिसूचना भी प्रकाशित की गई, जिसमें कहा गया कि उत्तरदाता तथा दो अन्य व्यक्तियों की सम्पदाएँ और धारिताएँ अधिनियम के प्रावधानों के अधीन बिहार राज्य को हस्तांतरित हो गईं और उसमें निहित हो गईं। उत्तरदाता ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पटना उच्च न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत की, जिसमें उक्त बिहार भूमि सुधार अधिनियम की संवैधानिकता को चुनौती दी गई तथा बिहार राज्य के विरुद्ध परमादेश की प्रकृति की एक विनिर्दिष्ट आदेश जारी करने की प्रार्थना की गई, जिससे उसे उक्त अधिनियम के प्रावधानों के आधार पर अथवा उनके अधीन किसी भी प्रकार से कार्य करने से रोका जा सके। इस आवेदन की सुनवाई बिहार के विभिन्न जमींदारों द्वारा दायर तीन स्वत्ववादों तथा अन्य समान आवेदनों के साथ उच्च न्यायालय की एक विशेष पीठ द्वारा की गई। न्यायालय ने तीन पृथक किन्तु सहमतिपूर्ण

निर्णयों द्वारा इस अधिनियम को संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन मौलिक अधिकार के उल्लंघन के आधार पर असंवैधानिक और शून्य घोषित कर दिया।

उच्च न्यायालय के समक्ष अधिनियम की वैधता को निम्नलिखित आधारों पर चुनौती दी गई:

1. कि बिहार विधायिका को इसे पारित करने की विधायी क्षमता प्राप्त नहीं थी।

2. कि यह संविधान के अनुच्छेद 31 के खंड (1) का उल्लंघन करता है।

3. कि अधिनियम के अधीन सम्पदाओं का बिहार राज्य में निहित होना वस्तुतः उन सम्पदाओं का अधिग्रहण है, और यह इसलिए अवैध है क्योंकि वह अधिग्रहण किसी लोक प्रयोजन के लिए नहीं था तथा प्रतिकर का प्रावधान आभासी था।

4. कि यह संविधान के अनुच्छेद 19(1)(फ) का उल्लंघन करता है।

5. कि इसके कुछ प्रावधान विधायी शक्तियों के प्रत्यायोजन के आधार पर अवैध हैं।

6. कि यह संविधान के साथ छल है।

7. कि यह संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने के कारण असंवैधानिक है।

न्यायालय ने निम्न प्रकार निर्णय दिया :—

1. कि बिहार विधायिका इस विधायन को अधिनियमित करने के लिए सक्षम थी।

2. कि अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 31(1) का उल्लंघन नहीं करता।

3. कि सम्पदाओं और धारिताओं का अधिग्रहण एक लोक प्रयोजन के लिए था।

4. कि अधिनियम का विषय-वस्तु संविधान के अनुच्छेद 31(4) के अंतर्गत आती है।

5. कि अनुच्छेद 19(1)(फ) का कोई अनुप्रयोग नहीं था।

6. कि कार्यपालिका को जो भी शक्तियाँ प्रत्यायोजित की गई थीं, वे अनुमेय थीं।

7. कि अधिनियम संविधान के साथ छल नहीं था।

8. कि अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने के कारण असंवैधानिक था।

उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील लंबित रहने के दौरान, संघ सरकार ने जर्मीदारों के वाद-विवाद का अंत करने के उद्देश्य से संविधान में संशोधन करने हेतु एक

विधेयक प्रस्तुत किया, और यह आवश्यक बहुमत से संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 के रूप में पारित कर दिया गया। जमींदारों ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन याचिकाएँ प्रस्तुत कर स्वयं संशोधन अधिनियम को असंवैधानिक और शून्य बताते हुए चुनौती दी। इन सभी याचिकाओं को इस न्यायालय द्वारा 5 अक्टूबर, 1951 को निरस्त कर दिया गया, और यह निर्णय दिया गया कि संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 वैध रूप से अधिनियमित किया गया था। संशोधन अधिनियम को दृष्टिगत रखते हुए, बिहार अधिनियम की असंवैधानिकता के संबंध में ऐसा कोई तर्क, जो इस आधार पर आधारित हो कि उस अधिनियम के प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 14, 19 या 31 का उल्लंघन करते हैं, अब शेष नहीं रहता, और अधिनियम को ऐसे किसी भी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। चूँकि उच्च न्यायालय ने अधिनियम को केवल इस आधार पर अवैध ठहराया था कि वह संविधान के अनुच्छेद 14 के प्रावधानों का उल्लंघन करता है, इसलिए अधिनियम को असंवैधानिक घोषित करने वाले निर्णय का आधार अब टिकाऊ नहीं रहा, और इसलिए यदि यह न्यायालय उत्तरदाता के विरुद्ध निर्णीत बिंदुओं पर उच्च न्यायालय के निर्णय से सहमत होता है, तो उस निर्णय को उलट दिया जाना चाहिए।

उत्तरदाता की ओर से श्री पी. आर. दास ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि इस अवस्था पर अधिनियम की वैधता के संबंध में यह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि वह संविधान के भाग III के किसी भी उपबंध का उल्लंघन करता है। तथापि, उन्होंने उन आधारों पर न्यायालय के निर्णय का समर्थन किया, जो उस न्यायालय द्वारा उनके विरुद्ध निर्णीत किए गए थे, और निम्नलिखित बिंदुओं का आग्रह किया :

1. कि विवादित अधिनियम अधिनियमित करने की क्षमता बिहार राज्य विधायिका के अधिकार क्षेत्र के भीतर नहीं थी।
2. कि संपदाओं का अधिग्रहण लोक प्रयोजन हेतु न होने के कारण अधिनियम असंवैधानिक था।
3. कि अधिनियम की विभिन्न धाराओं में विधायी शक्ति का परित्याग कार्यपालिका के पक्ष में कर दिया गया है और ऐसा शक्ति-परित्याग असंवैधानिक था।
4. कि अधिनियम संविधान के प्रति कपट था तथा अधिनियम के कुछ भाग अस्पष्टता एवं अनिश्चितता के कारण प्रवर्तनीय नहीं थे।

श्री पी. आर. दास द्वारा अधिनियम की वैधता पर किए गए आक्षेप का आधार मुख्यतः इस तर्क पर आधारित है कि संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची ॥ की प्रविष्टि 36 की भाषा में यह निहित है कि प्रतिकर के भुगतान के बिना संपत्ति का अधिग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी व्यक्ति के विरुद्ध अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति का एकमात्र प्रभाव यह है कि लोक आवश्यकता होने पर उसे संपत्ति विक्रय एवं हस्तांतरित करने के लिए बाध्य किया जा सके, किन्तु अनिवार्य रूप से लेने की शक्ति अपने निहितार्थ में भुगतान का अधिकार उत्पन्न करती है; दूसरे शब्दों में, भुगतान करने का सहगामी दायित्व विद्यमान है तथा अधिग्रहण की शक्ति प्रतिकर के भुगतान के दायित्व से अविभाज्य है और चूँकि प्रतिकर के भुगतान के संबंध में अधिनियम के उपबंध मायावी हैं, अतः वह असंवैधानिक है।

संविधान के अनुच्छेद 31(2) के संबंध में यह कहा गया है कि वह संपत्ति से संबंधित मूल अधिकार का व्यवहार करता है, जो उस उपबंध में नकारात्मक भाषा में व्यक्त किया गया है। प्रविष्टि 36 में उसे सकारात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। अनुच्छेद 31(4) तथा 31-ए और 31-बी के उपबंध, यद्यपि वे अधिग्रहित संपत्ति के स्वामी को संविधान के भाग ॥ के अंतर्गत प्रदत्त अधिकारों से वंचित करते हैं, तथापि वे किसी भी प्रकार से प्रविष्टि 36 के विस्तार को प्रभावित नहीं करते तथा राज्य विधायिका को वास्तविक अर्थों में प्रतिकर के भुगतान के बिना संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण हेतु विधि बनाने के लिए सशक्त नहीं करते। प्रविष्टि 36 में निहित शब्दों "प्रविष्टि 42 के उपबंधों के अधीन" पर विशेष बल दिया गया है और यह तर्क किया गया है कि प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधायी शक्ति का प्रयोग प्रविष्टि 42 के अंतर्गत शक्ति के प्रयोग पर सशर्त है, कि एक का प्रयोग दूसरे के बिना नहीं किया जा सकता तथा इन दोनों प्रविष्टियों द्वारा प्रदत्त शक्ति का निर्वचन इस धारणा पर किया जाना चाहिए कि अधिग्रहण के लिए भुगतान किया जाना था। यह आगे तर्क किया गया है कि प्रविष्टि 42 में निहित विधायी शक्ति एक ऐसे कर्तव्य से संयुक्त शक्ति है, जिसका प्रयोग विधायिका के लिए उस व्यक्ति के हित में करना अनिवार्य था जिसकी संपत्ति प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधायी शक्ति के प्रयोग में ली गई थी। यह भी कहा गया है कि बिहार विधायिका ने प्रविष्टि 36 तथा प्रविष्टि 42 दोनों के अंतर्गत विधिनिर्माण किया था और प्रतिकर के भुगतान की शर्त पर संपत्ति लेने का अभिप्राय रखा था, किन्तु यदि यह प्रकट होता है कि प्रतिकर के भुगतान के संबंध में उसके द्वारा किए गए उपबंध मायावी हैं, तब अधिनियम का वह भाग शून्य होगा और चूँकि विधायिका का यह अभिप्राय नहीं हो सकता था कि वह अधिनियम को ऐसे खंडित

रूप में पारित करे जिसमें प्रतिकर संबंधी उपबंधों को हटाए जाने पर वह शेष रहे, अतः संपूर्ण अधिनियम को असंवैधानिक ठहराया जाना चाहिए।

श्री दास द्वारा बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 को अधिनियमित करने हेतु बिहार विधायिका की क्षमता के प्रश्न पर उठाए गए तर्कों का मूल्यांकन करने के लिए उसके उपबंधों का उल्लेख करना तथा यह देखना आवश्यक है कि विधायिका ने किन विषयों पर विधि बनाने का प्रयत्न किया है।

अधिनियम का शीर्षक यह इंगित करता है कि यह विधि बिहार में किसी प्रकार के भूमि सुधार का उपबंध करती है। इसकी प्रस्तावना इन सुधारों की प्रकृति के संबंध में कोई संकेत नहीं देती, सिवाय इसके कि यह राज्य सरकार को कृषि नीति के संबंध में परामर्श देने हेतु एक भूमि आयोग के गठन का उपबंध करती है, चाहे उस अभिव्यक्ति का जो भी अर्थ हो। अधिनियम का प्रधान उद्देश्य भूमिधरों एवं काश्तकारी-अधिकार धारकों के भूमि संबंधी हितों तथा ऐसे हितों के बंधकधारियों एवं पट्टाधारियों के हितों का, जिनमें वृक्षों, वनों, मत्स्यपालन, जलकरों, घाटों, झोपड़ियों, बाजारों, खानों एवं खनिजों के हित भी सम्मिलित हैं, राज्य को हस्तांतरण करना है। धारा 3 यह उपबंध करती है कि सरकार समय-समय पर अधिसूचना द्वारा यह घोषित कर सकती है कि उसमें उल्लिखित संपदाएँ अथवा काश्तकारी-अधिकार राज्य में निहित एवं अंतर्निहित हो गए हैं। धारा 4 ऐसे निहित होने के परिणामों का उल्लेख करती है। यह अधिनियमित करता है कि ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार में सम्मिलित किसी भवन अथवा भवन के किसी भाग में, जो मुख्यतः ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार के किराये की वसूली हेतु कार्यालय अथवा कचहरी के रूप में प्रयुक्त होता है, भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक के हित तथा वृक्षों, वनों, मत्स्यपालन, जलकरों, झोपड़ियों, बाजारों एवं घाटों तथा अन्य सभी सैराती हितों में उसके हित, साथ ही भूमिगत भाग में उसके हित, जिनमें खानों एवं खनिजों में किसी भी प्रकार के अधिकार, चाहे वे खोजे गए हों अथवा नहीं, अथवा उन पर कार्य हो रहा हो या नहीं, तथा ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार में सम्मिलित खानों एवं खनिजों के पट्टाधारी के ऐसे अधिकार भी सम्मिलित हैं (रैयतों अथवा अधिरैयतों के हितों को छोड़कर), सभी भारों से मुक्त होकर पूर्णतः राज्य में निहित हो जाएँगे। खंड (बी) यह उपबंध करता है कि निहित होने की तिथि से पूर्व की किसी अवधि के लिए देय समस्त बकाया किराये, जिनमें अधिकार शुल्क तथा सभी उपकर तथा उन पर देय ब्याज, यदि कोई हो, जो भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक की संपदाओं अथवा काश्तकारी-अधिकारों के संबंध में वसूल योग्य थे तथा जिनकी वसूली

किसी परिसीमा विधि द्वारा वर्जित नहीं थी, राज्य में निहित होंगे तथा राज्य द्वारा वसूल किए जा सकेंगे। “बकाया किराये” की अभिव्यक्ति में ऐसे बकाये भी सम्मिलित हैं जिनके संबंध में निहित होने की तिथि पर वाद लंबित थे अथवा जिनके संबंध में ऐसे डिक्री, चाहे उनका प्रभाव किराया डिक्री अथवा धन डिक्री का हो, ऐसे निहित होने की तिथि से पूर्व प्राप्त किए गए थे और जिनका संतोष नहीं हुआ था तथा जो परिसीमा द्वारा वर्जित नहीं थे, और इसमें ऐसी डिक्रीयों द्वारा स्वीकृत व्यय भी सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में, किरायों एवं किराया डिक्रीयों की प्रकृति की सभी बकाया राशियाँ, जो निहित होने की तिथि से पूर्व भूमिधरों अथवा काश्तकारी-अधिकार धारकों को देय थीं और राज्य के उस संपदा में कोई अधिकार, स्वत्व अथवा हित प्राप्त करने से पूर्व अस्तित्व में थीं, वे भी राज्य को अंतरित हो जाएँगी। यह संपदा के निहित होने का एक विचित्र एवं कुछ असाधारण परिणाम प्रतीत होता है। सामान्यतः इसका संपदाओं के हस्तांतरण से कोई संबंध नहीं होता और न ही इसे उसका अनुषंगी माना जा सकता है। यह खंड वस्तुतः एक स्वतंत्र उपबंध है, जो यह निर्धारित करता है कि भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक को निहित होने से पूर्व की अवधि के दौरान देय वे धनराशियाँ, जो उसके द्वारा वसूल नहीं की गई थीं किन्तु जिनकी वसूली निजी प्रयासों द्वारा अथवा लंबित वादों या डिक्रीयों के माध्यम से, जिनमें उन वादों एवं डिक्रीयों का व्यय भी सम्मिलित है, प्रचलन में थी, वे राज्य के पक्ष में जब्त हो जाएँगी। खंड (सी) में निहित होने की तिथि से पूर्व सरकार को राजस्व एवं उपकरणों के बकाये के भुगतान के संबंध में भूमिधरों अथवा काश्तकारी-अधिकार धारकों की देयता को जीवित रखा गया है। निहित होने के अन्य परिणाम यह हैं कि भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक से किसी ऐसी धनराशि की वसूली हेतु कोई वाद संस्थित नहीं किया जा सकता, जो संपदा पर बंधक अथवा भार द्वारा सुरक्षित हो, तथा अधिनियम से आच्छादित ऐसी कोई संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार कुर्की के लिए उत्तरदायी नहीं होगा। समाहर्ता को संपदा का प्रभार लेने तथा ऐसे दस्तावेजों एवं लेखाओं का निरीक्षण करने का अधिकार है, जिन्हें वह संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार के प्रबंधन के लिए आवश्यक समझे। धारा 5 भूमिधरों एवं काश्तकारी-अधिकार धारकों को उनके गृहस्थानों को बनाए रखने की अनुमति देती है, किन्तु केवल ऐसे भोगधारियों की हैसियत से जो किराया देने के दायित्व से मुक्त हों। धारा 6 उन्हें राज्य के प्रति अधिभोगी रैयत की स्थिति में रैयतों के रूप में किराया भुगतान पर अपनी खास कब्जे की भूमि अथवा उनके अधीन पट्टाधारियों के कब्जे की भूमि पर कब्जा बनाए रखने की अनुमति देती है। धारा 7 यह उपबंध करती है कि भवन, तथा वे भूमि जिन पर ऐसे भवन स्थित हैं और जो भूमिधरों एवं काश्तकारी-अधिकार धारकों के कब्जे में हैं तथा गोलों,

कारखानों अथवा मिलों के रूप में प्रयुक्त होते हैं, उन्हें किराया भुगतान पर उनके द्वारा बनाए रखा जाएगा। धारा 8 समाहर्ता के आदेश के विरुद्ध व्यथित पक्षकार को अपील का अधिकार प्रदान करती है। धारा 9 में यह उपबंध किया गया है कि संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार में सम्मिलित सभी खानें, जो इस अधिनियम के प्रारंभ के समय संचालन में थीं और जिन पर प्रत्यक्ष रूप से भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक द्वारा कार्य किया जा रहा था, उन्हें राज्य सरकार द्वारा भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक को पट्टे पर दी गई मानी जाएगी। इस धारा के क्षेत्र में ऐसी खानें सम्मिलित नहीं हैं जिन पर पर्याप्त धनराशि व्यय की गई हो किन्तु जो वास्तव में संचालन में न हों। धारा 2 के उपखंड (एम) में "संचालन में खानें" अभिव्यक्ति की एक कृत्रिम परिभाषा दी गई है, जिसका अर्थ ऐसी खानें हैं जिनके संचालन के संबंध में भारतीय खान अधिनियम के अधीन सरकार को सूचना दी गई हो। धारा 10 खानों एवं खनिजों के विद्यमान पट्टों को जीवित रखती है तथा पट्टाधारी को सरकार के अधीन पट्टाधारी माना जाता है। खान से संबद्ध भवन तथा भूमि धारा 11 के उपबंधों के अंतर्गत राज्य को अंतरित हो जाते हैं और उन्हें निहित होने की तिथि से राज्य द्वारा पट्टाधारी को पट्टे पर दिया हुआ माना जाएगा। धारा 12 खान अधिकरण के गठन का उपबंध करती है। धारा 13 राज्य में निहित होने वाली संपदाओं एवं काश्तकारी-अधिकारों के प्रबंधन का उपबंध करती है। धाराएँ 14, 15, 16, 17 एवं 18 भूमिधरों एवं काश्तकारी-अधिकार धारकों के ऋणों की जाँच से संबंधित उपबंध करती हैं तथा उन ऋणों के भुगतान की प्रक्रिया निर्धारित करती हैं। धारा 19 में प्रतिकर पदाधिकारी की नियुक्ति का उपबंध किया गया है। धाराओं 20 एवं 21 में उस प्रक्रिया के संबंध में कुछ निर्देश दिए गए हैं जिन्हें प्रतिकर पदाधिकारी द्वारा उस स्थिति में अपनाया जाना है जहाँ भूमिधर का किसी संपदा में केवल एक निश्चित अंश हो तथा जहाँ काश्तकारी-अधिकार धारक अथवा भूमिधर द्वारा कुछ न्यास निर्मित किए गए हों। धारा 22 "पूर्ववर्ती कृषि वर्ष" तथा "सकल आस्तियाँ" वाक्यांश को भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक के संदर्भ में परिभाषित करती है। अधिनियम में "सकल आस्तियाँ" का अर्थ ऐसे भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक की संपदाओं अथवा काश्तकारी-अधिकारों के संबंध में पूर्ववर्ती कृषि वर्ष के लिए देय किरायों, जिनमें सभी उपकर सम्मिलित हैं, के योग से है, चाहे वे अधीनस्थ भोगधारी अथवा रैयतों द्वारा देय हों। उन किरायों के निर्धारण के संबंध में कुछ विवरण निर्धारित किए गए हैं। "सकल आस्तियाँ" अभिव्यक्ति में मत्स्यपालन, वृक्षों, जलकरों, घाटों, झोपड़ियों, बाजारों एवं सैराती हितों से पूर्ववर्ती कृषि वर्ष की सकल आय भी सम्मिलित है। वनों से सकल आय की गणना उस कृषि वर्ष से पूर्व के पच्चीस कृषि वर्षों की औसत सकल वार्षिक आय के आधार पर की जानी है

जिसमें निहित होने की तिथि आती है, जिसे वन पदाधिकारी की राय में वन उक्त पच्चीस वर्षों की अवधि के दौरान प्रदान करते यदि वे उस अवधि में राज्य के प्रबंधन के अधीन रखे गए होते।

धारा 23 शुद्ध आय की गणना की विधि निर्धारित करती है। यह उपबंध करती है कि भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक की, यथास्थिति, शुद्ध आय की गणना ऐसे भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक की सकल आस्तियों में से निम्नलिखित कटौतियाँ करके की जाएगी :-

(ए) भूमि राजस्व अथवा किराये के रूप में देय कोई राशि।

(बी) ऐसे भूमिधर द्वारा पूर्ववर्ती कृषि वर्ष के लिए ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार से प्राप्त किसी कृषि आय के संबंध में कृषि आय-कर के रूप में देय कोई राशि;

(सी) ऐसे भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक द्वारा पूर्ववर्ती कृषि वर्ष के लिए ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार से प्राप्त किसी आय, अधिकार शुल्क को छोड़कर, के संबंध में आय-कर के रूप में देय कोई राशि;

(डी) चौकीदारी कर अथवा नगरपालिका कर के रूप में देय कोई राशि;

(ई) ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार के प्रबंधन की लागत, जो सकल आस्तियों की राशि के अनुसार पाँच से बीस प्रतिशत तक की विभिन्न दरों पर होगी। न्यूनतम सीमा 2,000 रुपये तथा अधिकतम सीमा 15,000 रुपये से अधिक किसी भी राशि पर निर्धारित की गई है।

ये दरें मनमाने ढंग से निर्धारित प्रतीत होती हैं, जिनका वास्तविक प्रबंधन लागत से किसी प्रकार का संबंध नहीं है। उदाहरणार्थ, दरभंगा महाराजा के मामले में, जिनकी संपदा की सकल आय लगभग अड़तालीस लाख है, इस गणना के अनुसार प्रबंधन लागत साढ़े नौ लाख रुपये होगी, जो प्रथम दृष्टया चौंकाने वाली प्रतीत होती है; इसका वास्तव में व्यय की गई लागत से शायद ही कोई संबंध हो सकता है। सामान्यतः "प्रबंधन" शीर्ष के अंतर्गत व्यय अनुपात सर्वाधिक सकल आय की स्थिति में न्यूनतम होता है। यह सकल आय की राशि में कमी के अनुपात में बढ़ता है। तथापि, अधिनियम ने अर्थशास्त्र के इस सिद्धांत को उलट दिया है, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिकर निर्धारण के लिए निर्दिष्ट सिद्धांतों के अनुसार जो धनराशि भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक को प्रतिकर के रूप में देय होती, उसका एक भाग शुद्ध आय में इस कृत्रिम कमी के कारण राज्य के पक्ष में जब्त हो जाता है। खंड (फ)

संपदाओं अथवा काश्तकारी-अधिकारों के रैयतों के लाभार्थ कार्यों की लागत को सकल आस्तियों से कटौती करने का उपबंध करता है, जिसकी दरें चार से बारह और आधा प्रतिशत तक परिवर्तित होती हैं। चार प्रतिशत की दर वहाँ लागू होती है जहाँ सकल आस्तियाँ 5,000 रुपये से अधिक न हों, तथा बारह और आधा प्रतिशत की दर वहाँ लागू होती है जहाँ सकल आस्तियाँ 25,000 रुपये से अधिक हों। यह स्पष्ट है कि रैयतों के लाभार्थ कार्यों की लागत की गणना वास्तविक रूप से किए गए व्ययों के किसी संदर्भ के बिना एक समान दर पर करना, जब्तीकारी प्रकृति का उपबंध है। यह कृत्रिम रूप से शुद्ध आय को कम करता है, जो प्रतिकर के निर्धारण का आधार है। इस धारा का अंतिम खंड (जी) ऐसी संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार के संबंध में देय किसी अन्य कर अथवा वैधानिक अधिरोपण की कटौती की अनुमति देता है, जिसका पूर्ववर्ती खंडों में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। धारा 24 भूमिधर अथवा काश्तकारी-अधिकार धारक को देय प्रतिकर के निर्धारण की विधि का उपबंध करती है। यह प्रतिकर के निर्धारण हेतु एक परिवर्ती मापदंड निर्धारित करती है। जहाँ शुद्ध आय 500 रुपये से अधिक नहीं होती, वहाँ देय प्रतिकर शुद्ध आय का बीस गुना होता है और जहाँ गणना की गई शुद्ध आय 1,00,000 रुपये से अधिक होती है, वहाँ यह राशि के तीन गुने के रूप में देय होती है। ऐसे मामलों में प्रतिकर मात्र नाममात्र का होता है। दरभंगा महाराजा के मामले में, अधिग्रहित संपदा में वह भूमि भी सम्मिलित थी जिसे उन्होंने लगभग एक करोड़ रुपये व्यय करके क्रय किया था तथा उसमें लगभग आधा करोड़ रुपये की बंधक राशियाँ भी सम्मिलित थीं। ये सभी दरभंगा महाराजा की पैतृक जमींदारियों तथा 30,00,000 रुपये की बकाया किराया राशि सहित बिहार राज्य में निहित हो जाती हैं, जबकि कुल देय प्रतिकर लगभग 9,00,000 रुपये है। यह धारा आगे यह उपबंध करती है कि इस प्रकार देय राशि में धारा 4 के खंड (बी) में उल्लिखित बकाया किराये की राशि का पचास प्रतिशत तथा धारा 25 के अंतर्गत निर्धारित खानों एवं खनिजों के संबंध में देय प्रतिकर की राशि भी जोड़ी जाएगी। यह धारा उन व्यक्तियों के मामले में प्रतिकर निर्धारण की विधि भी निर्धारित करती है जिनका जमींदारी में केवल अंश हो अथवा काश्तकारी-अधिकारों या संपदाओं में अन्य लघु हित हों, जहाँ संपदा अथवा काश्तकारी-अधिकार न्यास में धारित हो आदि, अथवा जहाँ वे अविभाज्य प्रकृति के हों। खानों एवं खनिजों के मामले में निर्धारण की विधि धारा 25 में निर्धारित की गई है। इसे या तो समझौते द्वारा अथवा इस प्रयोजन के लिए नियुक्त अधिकरण द्वारा निर्धारित किया जाना है। अनुवर्ती धाराएँ प्रतिकर अभिलेख की तैयारी तथा अपीलों की सुनवाई आदि का उपबंध करती हैं। धारा 32 प्रतिकर के भुगतान की विधि एवं प्रकार निर्धारित करती है। इस धारा की उपधारा (2) यह अधिनियमित करती है

कि प्रतिकर की राशि का भुगतान नकद में अथवा बांडों में, अथवा आंशिक रूप से नकद और आंशिक रूप से बांडों में किया जाएगा। बांड या तो परक्राम्य होंगे अथवा अपरक्राम्य एवं अहस्तांतरणीय होंगे और उनमें नामित व्यक्तियों को चालीस समान किस्तों में देय होंगे तथा निर्गमन की तिथि से प्रतिवर्ष ढाई प्रतिशत ब्याज वहन करेंगे। प्रतिकर के संबंध में भूमिधरों अथवा काश्तकारी-अधिकार धारकों के मध्य उत्पन्न किसी भी विवाद का निर्णय राज्य सरकार द्वारा नियुक्त अधिकरण द्वारा किया जाएगा। धारा 34 बिहार भूमि आयोग नामक एक आयोग के गठन का उपबंध करती है। अधिनियम के अन्य उपबंध विविध प्रकृति के हैं और उनके लिए किसी विशेष उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। अंतिम धारा राज्य सरकार को अधिनियम के उपबंधों को प्रभावी करने हेतु नियम बनाने के लिए प्राधिकृत करती है।

अधिनियम के इस सर्वेक्षण से यह प्रतीत होता है कि अधिनियमित विधि को विधायी सूचियों की अनेक प्रविष्टियों से संबंधित माना जा सकता है, अर्थात् भूमि में अथवा भूमि पर अधिकार, भूमि काश्तकारी-अधिकार, वन, मत्स्यपालन, खानें एवं खनिज, संपत्ति का अधिग्रहण तथा अधिग्रहित संपत्ति के प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांत। तथापि, मेरे मत में, विधिनिर्माण का सार एवं तत्व संपदाओं के स्वामित्व का राज्य सरकार को हस्तांतरण है और यह सूची ॥ की विधायी शीर्ष प्रविष्टि 36 के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आता है। विधि के ढाँचे के भीतर भूमि सुधार की कोई योजना नहीं है, सिवाय इसके कि यह एक सद्भावनापूर्ण आशा व्यक्त की गई है कि आयोग संभवतः ऐसी कोई योजना प्रस्तुत करे। बिहार विधायिका निश्चित रूप से संपदाओं के हस्तांतरण के विषय पर विधि बनाने में सक्षम थी और ऐसे हस्तांतरणों के संबंध में अधिनियम संवैधानिक है।

अधिनियम आगे उन बकाया किरायों की वसूली से भी संबंधित है, जो संपदाओं के जमींदारों में निहित होने की तिथि से पूर्व देय थे, तथा ऐसी वसूली का पचास प्रतिशत राज्य कोष के पक्ष में जब्त कर लेता है। यह अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिकर राशि के उस भाग को भी राज्य कोष के पक्ष में जब्त कर लेता है, जो भूमिधरों अथवा काश्तकारी-अधिकार धारकों को देय होती यदि शुद्ध आय को सकल आय में से कृत्रिम प्रकृति की ऐसी मदों की कटौती करके कम न किया गया होता, जिनका किसी वास्तविक व्यय से कोई संबंध नहीं है। इन दोनों उपबंधों पर पृथक रूप से आगे विचार किया जाएगा, क्योंकि मेरे मत में इन उपबंधों का अधिनियमन असंवैधानिक है।

यह धारण करने के उपरांत कि बिहार अधिनियम संपदाओं के राज्य को हस्तांतरण के संबंध में संवैधानिक है तथा यह मुख्यतः सूची ॥ की विधायी शीर्ष प्रविष्टि 36 के अंतर्गत एक

अधिनियमन है, अब श्री दास के उस तर्क की परीक्षा करना सुविधाजनक है जिसके अनुसार इस प्रविष्टि द्वारा विधायिका को प्रदत्त शक्ति की विषयवस्तु में प्रतिकर का भुगतान करने का एक सहगामी दायित्व विद्यमान है और चूँकि प्रतिकर के भुगतान संबंधी उपबंध मायावी हैं, अतः अधिनियम असंवैधानिक है तथा संविधान का अनुच्छेद 31(4) इस आक्षेप के विरुद्ध कोई संरक्षण प्रदान नहीं करता।

श्री पी. आर. दास के इस प्रतिपादन के समुचित मूल्यांकन एवं परीक्षण हेतु कि सप्तम अनुसूची की सूची II की प्रविष्टि 36 की भाषा में प्रतिकर भुगतान का दायित्व निहित है तथा अनिवार्य रूप से लेने की शक्ति अपने निहितार्थ में भुगतान का अधिकार उत्पन्न करती है, क्योंकि अधिग्रहण की शक्ति प्रतिकर भुगतान के दायित्व से अविभाज्य है, संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के विषय पर राज्य की शक्ति के उद्गम का संक्षेप में परीक्षण करना आवश्यक है। यह शक्ति राज्य की एक प्रभुतासंपन्न शक्ति है। लोक उपयोग हेतु संपत्ति लेने की शक्ति का प्रयोग प्राचीन काल से किया जाता रहा है। केंट ने इसे राज्य की अंतर्निहित प्रभुतासंपन्न शक्ति के रूप में वर्णित किया है। राज्य की इस शक्ति के अनुषंग के रूप में यह अपेक्षा जुड़ी हुई है कि लोक उपयोग हेतु संपत्ति को उचित प्रतिकर के बिना नहीं लिया जाएगा। श्री ब्रूम ने अपनी कृति "सांविधानिक विधि" में कहा है, "व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार के पश्चात् क्रम में अगला अधिकार बिना अनुचित हस्तक्षेप अथवा उत्पीड़न के निजी संपत्ति का उपभोग करने का है, तथा यह अपेक्षा कि लोक उपयोग हेतु संपत्ति को उचित प्रतिकर के बिना नहीं लिया जाएगा, निजी संपत्ति के संरक्षण के लिए सामान्य विधि द्वारा स्थापित महान सिद्धांत की केवल एक पुष्टि है। यह प्राकृतिक न्यायसंगतता पर आधारित है तथा इसे सार्वभौमिक विधि के सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया गया है।" लॉर्ड एटकिंसन के शब्दों में, *सेंट्रल कंट्रोल बोर्ड बनाम कैन्न ब्रूअरी कंपनी लिमिटेड*⁽¹⁾ के मामले में, अनिवार्य रूप से लेने की शक्ति अपने निहितार्थ में भुगतान का अधिकार उत्पन्न करती है।

महाद्वीप में अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति को "प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण" शब्द द्वारा वर्णित किया जाता है। यह शब्द प्रतीत होता है कि 1625 में ह्यूगो गोटियस द्वारा उत्पन्न किया गया था, जिन्होंने अपनी कृति "डे ज्यूर बेल्ली एट पैसिस" में इस शक्ति के संबंध में निम्नलिखित रूप से लिखा :

"प्रजाजनों की संपत्ति राज्य के प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण के अधीन है, जिससे राज्य अथवा उसके लिए कार्य करने वाला व्यक्ति ऐसी संपत्ति का उपयोग कर सकता है तथा यहाँ

(1) [1919] ए.सी.744.

तक कि उसका हस्तांतरण और विनाश भी कर सकता है, न केवल अत्यधिक आवश्यकता की स्थिति में, जिसमें निजी व्यक्तियों को भी अन्य व्यक्तियों की संपत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है, बल्कि लोक उपयोगिता के उद्देश्यों के लिए भी, जिन उद्देश्यों के लिए यह माना जाना चाहिए कि नागरिक समाज की स्थापना करने वालों का अभिप्राय था कि निजी हितों को स्थान छोड़ देना चाहिए। किन्तु यह जोड़ना आवश्यक है कि जब ऐसा किया जाए, तब राज्य उन व्यक्तियों की हानि की प्रतिपूर्ति करने के लिए बाध्य है जो अपनी संपत्ति खो देते हैं।”

व्यक्ति के प्रतिकर के अधिकार तथा प्रभुतासंपन्न सत्ता की अधिग्रहण शक्ति के मध्य संबंध पर “थेयर्स केसेज़ ऑन कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ” (खंड 1, पृष्ठ 953) (जिसका उल्लेख “निकल्स ऑन एमिनेंट डोमेन” के पृष्ठ 3 पर किया गया है) में निम्नलिखित शब्दों में विचार किया गया है :

“किन्तु जबकि यह दायित्व (प्रतिकर प्रदान करने का) इस प्रकार सुव्यवस्थित एवं स्पष्ट है, यह विशेष रूप से ध्यान दिया जाए कि यह किस आधार पर स्थित है, अर्थात् व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर। दूसरी ओर, राज्य का अधिग्रहण करने का अधिकार एक भिन्न स्रोत से उत्पन्न होता है, अर्थात् शासन की आवश्यकता से। अतः इन दोनों का उद्गम समान नहीं है; उदाहरणार्थ, वे राज्य और व्यक्ति के मध्य किसी निहित संविदा से उत्पन्न नहीं होते कि राज्य को संपत्ति प्राप्त होगी यदि वह प्रतिकर प्रदान करे; यह अधिकार केवल पूर्वक्रय का अधिकार नहीं है और न ही इसके साथ प्रतिकर की कोई शर्त संलग्न है, चाहे पूर्ववर्ती हो अथवा पश्चातवर्ती; बल्कि अधिग्रहण का एक अधिकार है और उसके साथ अनुषंग के रूप में प्रतिकर प्रदान करने का दायित्व संलग्न है; नैतिक दृष्टि से यह उत्तरवर्ती वास्तव में पूर्ववर्ती का छाया के समान अनुसरण करता है, किन्तु फिर भी यह उससे पृथक है तथा एक भिन्न स्रोत से प्रवाहित होता है।”

अपने सभी अनुषंगों से पृथक करने पर, अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति अथवा “प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण” शब्द की सरल परिभाषा लोक उपयोग हेतु स्वामी की सहमति के बिना संपत्ति लेने की प्रभुतासंपन्न सत्ता की शक्ति है। इस शक्ति का उसके अपरिवर्तनीय तत्वों में अर्थ है, ए लेने की शक्ति, (बी) स्वामी की सहमति के बिना, (सी) लोक उपयोग हेतु। लोक उपयोग की अवधारणा इस शक्ति के उपयुक्त प्रयोग के साथ अविच्छेद्य रूप से संबंधित रही है तथा इसके अर्थ के किसी भी प्रतिपादन में इसे आवश्यक माना गया है। प्रतिकर का भुगतान, यद्यपि इस शब्द के अर्थ का अनिवार्य घटक नहीं है, तथापि ऐसी शक्ति के वैध प्रयोग का एक आवश्यक तत्व है। न्यायालयों ने “प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण” को इस प्रकार परिभाषित किया

है कि इस सार्वभौमिक सीमा को उसके अर्थ के एक आवश्यक अवयव के रूप में सम्मिलित किया जा सके। इस विस्तृत परिभाषा के समर्थन में सर्वत्र प्राधिकार उपलब्ध है कि "प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण" वह शक्ति है जिसके द्वारा प्रभुतासंपन्न सत्ता लोक उपयोग हेतु स्वामी की सहमति के बिना उचित प्रतिकर प्रदान करते हुए संपत्ति का अधिग्रहण करती है।

अतः यह स्पष्ट है कि उचित प्रतिकर के भुगतान का दायित्व संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति का एक आवश्यक अनुषंग है, चाहे वह अंग्रेजी सामान्य विधि के सिद्धांत के अधीन हो अथवा महाद्वीपीय प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण के सिद्धांत के अधीन, जिसे पश्चात् अमेरिका में अपनाया गया।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए प्रतिकर भुगतान का यह दायित्व संविधान-निर्माताओं द्वारा हमारे संविधान में सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची I की प्रविष्टि 33 के विधायी शीर्षों के अंतर्गत निहित रूप से प्रतिपादित किया गया है, अथवा क्या यह अत्यंत महत्वपूर्ण दायित्व, जो अनिवार्य अधिग्रहण का छाया के समान अनुसरण करता है, संविधान में कहीं अन्यत्र स्पष्ट एवं निश्चित शब्दों में व्यक्त किया गया है। मेरे मत में, हमारे संविधान ने संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए प्रतिकर भुगतान के इस दायित्व को एक मूल अधिकार का स्तर प्रदान किया है तथा यह घोषित किया है कि ऐसी कोई विधि, जो प्रतिकर के भुगतान का उपबंध नहीं करती, शून्य होगी। उन्होंने इस विषय को बार में विद्वत्पूर्ण तर्कों के माध्यम से प्रविष्टि 36 की विषयवस्तु से खोजे जाने और व्युत्पन्न किए जाने के लिए नहीं छोड़ा; उन्होंने संविधान के अनुच्छेद 31(2) में इसके लिए स्पष्ट रूप से उपबंध किया। चूँकि भुगतान का दायित्व उस विधि का अनिवार्य भाग बना दिया गया है, जो सूची I की प्रविष्टि 33 तथा सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधिनिर्माण करने का दावा करती है, इसलिए श्री पी. आर. दास के इस तर्क को स्वीकार करना संभव नहीं है कि प्रतिकर भुगतान का दायित्व प्रविष्टि 36 की भाषा में अंतर्निहित है। मैं विद्वान महान्यायवादी से सहमत हूँ कि अधिग्रहण की अवधारणा तथा प्रतिकर की अवधारणा दो भिन्न धारणाएँ हैं, जिनका उद्गम भिन्न स्रोतों से हुआ है। एक राज्य की प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति पर आधारित है, जबकि दूसरी उस व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार पर आधारित है जिसे संपत्ति से वंचित किया गया है और जिसे उसकी हानि के लिए प्रतिकर दिया जाना चाहिए। एक अधिग्रहण की शक्ति है, दूसरी उस शक्ति के प्रयोग की शर्त है। अधिग्रहण की शक्ति का उल्लेख प्रविष्टि 36 में किया गया था, जबकि उस शक्ति के प्रयोग की

शर्त अनुच्छेद 31(2) में निहित की गई थी और स्वयं प्रविष्टि की विषयवस्तु में प्रतिकर भुगतान का कोई दायित्व निहित नहीं था।

इस संबंध में भारत सरकार अधिनियम, 1935 का उल्लेख किया जा सकता है। उस अधिनियम की धारा 299 द्वारा स्वयं विधिनिर्माण की शक्ति पर एक प्रतिबंध अधिरोपित किया गया था। तथापि, संविधान ने ऐसी विधियों को, जो प्रतिकर का उपबंध नहीं करती, शून्य घोषित किया और इसने न केवल विधिनिर्माण की शक्ति पर प्रतिबंध अधिरोपित किया, बल्कि अधिग्रहित संपत्ति के स्वामी को उसके मूल अधिकार के प्रवर्तन हेतु संविधान के अनुच्छेद 32 में एक उपचार भी सुनिश्चित किया। अतः मेरा मत है कि श्री दास का यह तर्क सही नहीं है कि जब तक सूची 1 की प्रविष्टि 36 द्वारा प्रदत्त विधायी शक्ति के अंतर्गत अधिनियमित विधि द्वारा प्रतिकर का समुचित उपबंध नहीं किया जाता, तब तक वह विधि असंवैधानिक है, क्योंकि प्रविष्टि 36 स्वयं प्रतिकर का उपबंध किए बिना ऐसी विधि बनाने को प्राधिकृत नहीं करती। तत्पश्चात् यह कहा गया कि सूची 11 की प्रविष्टि 36, उसमें प्रयुक्त “के अधीन” शब्दों के कारण समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 से संबद्ध है और प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई किसी विधि की वैधता, प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधायी शक्ति के समकालिक प्रयोग पर सशर्त है, और चूँकि इस शक्ति का कोई वैध प्रयोग नहीं हुआ है (क्योंकि विवादित अधिनियम में प्रतिकर निर्धारण संबंधी उपबंध मायावी हैं), अतः प्रविष्टि 36 के अंतर्गत किया गया विधिनिर्माण विफल हो जाता है। मेरे मत में यह तर्क असंगत है। उपर्युक्त दोनों प्रविष्टियाँ मात्र विधिनिर्माण के शीर्ष हैं और न तो परस्पर आश्रित हैं और न ही एक-दूसरे की पूरक। संविधान के अनुच्छेद 31(2) के उपबंधों के बल से ही यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रविष्टि 36 के अंतर्गत अधिनियमित विधि को वैधता प्रदान करने हेतु समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत प्रतिकर का उपबंध करने वाला विधिनिर्माण किया जाए, न कि प्रविष्टि की शब्दावली में “के अधीन” शब्दों के प्रयोग के कारण। ऐसे शब्द संघ सूची की प्रविष्टि 33 में नहीं पाए जाते। यह युक्तियुक्त रूप से तर्क नहीं किया जा सकता कि संसद अपने प्रयोजनों के लिए संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण हेतु समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधि बनाए बिना कोई विधि बना सकती है, किन्तु इस संबंध में राज्य विधायिका की स्थिति भिन्न है। मेरे मत में ऐसा तर्क अस्थिर है। प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त “के अधीन” शब्दों का एकमात्र उद्देश्य यह इंगित करना है कि प्रविष्टि 36 के अंतर्गत किया गया विधिनिर्माण समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत संसद द्वारा अपनी विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई गई किसी विधि के अधीन होगा। दोनों विधायिकाएँ प्रविष्टि 42 के अंतर्गत

विधिनिर्माण कर सकती हैं, किन्तु इस प्रविष्टि के अंतर्गत शक्तियों के प्रयोग में निर्मित संसदीय विधि को प्रतिकूलता की स्थिति में राज्य विधि पर अधिमान्यता प्राप्त होगी और इसी कारण राज्य सूची की प्रविष्टि 36 में उल्लिखित विधायी शीर्ष में प्रविष्टि 42 का संदर्भ दिया गया था। दूसरे शब्दों में, इसका केवल इतना अर्थ है कि जब भी कोई विधि राज्य विधायिका द्वारा प्रविष्टि 36 के अंतर्गत अपनी विधायी शक्ति के प्रयोग में बनाई जाएगी, वह विधि समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत संसद द्वारा अपनी विधायी शक्तियों के प्रयोग में निर्मित विधि के उपबंधों के अधीन होगी।

अंत में यह तर्क किया गया कि समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 में प्रदत्त विधायी शक्ति अधिग्रहित संपत्ति के स्वामी के लाभ के लिए प्रदत्त शक्ति है तथा जब भी विधायिका अपनी अनिवार्य शक्तियों के अंतर्गत संपत्ति का अधिग्रहण करती है, तब वह इस शक्ति का प्रयोग उसके लाभ के लिए करने हेतु बाध्य है; दूसरे शब्दों में, यह कहा गया कि प्रविष्टि द्वारा प्रदत्त शक्ति उसके प्रयोग के दायित्व से संयुक्त है। इस संबंध में *जूलियस बनाम ऑक्सफोर्ड के बिशप*⁽¹⁾ के मामले में लॉर्ड केर्न्स की टिप्पणियों का संदर्भ दिया गया। उस निर्णय का सिद्धांत यह है कि जहाँ किसी न्यास की प्रकृति में शक्ति प्रदान की जाती है, वहाँ "न्यास हितलाभी" के लाभ हेतु उसका प्रयोग करने का दायित्व होता है। ये टिप्पणियाँ संविधान द्वारा प्रदत्त विधायी शक्तियों के मामले में किसी उपयुक्त रूप से लागू नहीं होतीं। सूचियों में प्रविष्टियाँ मात्र विधायी शीर्ष हैं और सक्षमकारी प्रकृति की हैं। किसी विधायी शीर्ष में विधायी शक्ति के प्रयोग का दायित्व तथा वह भी किसी विशेष प्रकार से प्रयोग करने का दायित्व नहीं पढ़ा जा सकता। यदि विद्वान अधिवक्ता का तर्क सही होता, तब इस न्यायालय के लिए यह संभव होता कि वह विधायिका को प्रविष्टि 42 के अंतर्गत अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग करने हेतु *परमादेश* जारी करे, यदि वह ऐसा करने में विफल रहती। इस प्रश्न का सामना होने पर श्री दास को स्वीकार करना पड़ा कि वह गंभीरतापूर्वक यह तर्क नहीं कर सकते कि यदि कोई विधायिका किसी अधिनियम को अधिनियमित करना न चाहे, तब उसे ऐसा करने का निर्देश दिया जा सकता है। प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधि बनाने में विफलता, प्रविष्टि 36 के अंतर्गत बनाई गई विधि को अवैध नहीं बना सकती। मेरे मत में *जूलियस बनाम ऑक्सफोर्ड के बिशप* के मामले का निर्णय हमारे समक्ष उपस्थित विषय से कोई प्रासंगिकता नहीं रखता।

इन अपीलों में निर्धारण हेतु निर्णायक प्रश्न यह है कि संविधान के अनुच्छेद 31(4) अथवा नवीन अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी ने अधिग्रहित संपत्ति के स्वामी को इस विषय के

(1) (1880) 5 अपील मामला 214.

संबंध में उसके अधिकारों अथवा उपचारों से तथा अधिग्रहित संपत्ति के लिए प्रतिकर प्राप्त करने के प्रत्याभूत अधिकार से किस सीमा तक वंचित किया है। अनुच्छेद 31(4) निम्नलिखित शब्दों में है :-

“यदि इस संविधान के प्रारंभ के समय किसी राज्य की विधायिका में लंबित कोई विधेयक, ऐसी विधायिका द्वारा पारित किए जाने के पश्चात्, राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किया गया हो तथा उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई हो, तब इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, इस प्रकार स्वीकृत विधि को किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह खंड (2) के उपबंधों का उल्लंघन करती है।”

अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी निम्नलिखित शब्दों में हैं :-

“31-ए. (1) इस भाग के पूर्ववर्ती उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, ऐसी कोई विधि जो राज्य द्वारा किसी संपदा अथवा उसमें निहित किसी अधिकार के अधिग्रहण का अथवा ऐसे किसी अधिकार के उन्मूलन अथवा संशोधन का उपबंध करती हो, इस आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी कि वह इस भाग के किसी उपबंध द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी के साथ असंगत है अथवा उनका हरण या संक्षेपण करती है :”

परन्तु जहाँ ऐसी विधि किसी राज्य की विधायिका द्वारा निर्मित विधि हो, वहाँ इस अनुच्छेद के उपबंध उस पर तब तक लागू नहीं होंगे जब तक ऐसी विधि, राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित किए जाने के पश्चात्, उनकी स्वीकृति प्राप्त न कर ले।

(2) इस अनुच्छेद में—

(ए) “संपदा” अभिव्यक्ति का, किसी स्थानीय क्षेत्र के संबंध में, वही अर्थ होगा जो उस क्षेत्र में प्रवृत्त भूमि काश्तकारी-अधिकार संबंधी विद्यमान विधि में उस अभिव्यक्ति अथवा उसके स्थानीय समतुल्य का है और इसमें कोई जागीर, इनाम, मुआफी अथवा अन्य समान अनुदान भी सम्मिलित होगा;

(बी) “अधिकार” अभिव्यक्ति में, किसी संपदा के संबंध में, किसी भूमिधर, उप-भूमिधर, अधीन-भूमिधर, काश्तकारी-अधिकार धारक अथवा अन्य मध्यस्थ में निहित किसी भी अधिकार तथा भूमि राजस्व के संबंध में किसी भी अधिकार अथवा विशेषाधिकार को सम्मिलित किया जाएगा।

“31-बी. अनुच्छेद 31-ए में निहित उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट अधिनियमों एवं विनियमों में से कोई भी, अथवा उनके किसी भी उपबंध को, इस आधार पर शून्य नहीं माना जाएगा और न ही यह माना जाएगा कि वे कभी शून्य हुए हैं, कि ऐसा अधिनियम, विनियम अथवा उपबंध इस भाग के किसी उपबंध द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी के साथ असंगत है अथवा उनका हरण या संक्षेपण करता है, और किसी न्यायालय अथवा अधिकरण के किसी विपरीत निर्णय, डिक्री अथवा आदेश के होते हुए भी, उक्त प्रत्येक अधिनियम एवं विनियम, किसी सक्षम विधायिका की उसे निरसित अथवा संशोधित करने की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रवृत्त बने रहेंगे।”

अनुच्छेद 31(4) की भाषा अपने शब्दों में स्पष्ट एवं असंदिग्ध है और यह घोषित करती है कि जब किसी विधेयक को अनुच्छेद 31(3) एवं 31(4) में विनिर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, तब इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, इस प्रकार स्वीकृत विधि को किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह खंड (2) के उपबंधों का उल्लंघन करती है।

इस खंड के क्षेत्राधिकार का निर्धारण करने के लिए यह निर्धारित करना आवश्यक है कि खंड (2) के वे कौन से विशिष्ट उपबंध हैं जिन्हें खंड (4) न्यायिक परीक्षण से परे बनाता है। इस खंड की भाषा का कठोर निर्वचन किया जाना चाहिए, क्योंकि यह निरोधात्मक उपबंध की प्रकृति का है। मेरे मत में, खंड (4) द्वारा न्यायिक परीक्षण से परे किए गए उपखंड (2) के उपबंध प्रतिकर के निर्धारण एवं भुगतान से संबंधित हैं। इस खंड का संपूर्ण उद्देश्य प्रतिकर भुगतान के दायित्व को संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण की पूर्ववर्ती शर्त बनाना है। “जब तक” शब्द से पूर्व के खंड के शब्द मात्र उस विधि का वर्णनात्मक विवरण हैं, जिसकी वैधता उस स्थिति में प्रश्नगत हो जाती यदि उसकी विषयवस्तु में अधिग्रहित संपत्ति के लिए प्रतिकर के निर्धारण एवं भुगतान का उपबंध न होता। “ऐसी” शब्द का प्रयोग इस निर्वचन का पूर्ण समर्थन करता है। इस खंड का अधिदेश यह है कि ऐसी विधि में अधिग्रहित संपत्ति के स्वामी को प्रतिकर के भुगतान का उपबंध होना चाहिए। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश (खंड 8, पृष्ठ 1526) के अनुसार, जब “प्रावधान” अभिव्यक्ति का प्रयोग विधियों में किया जाता है, तब उसका संबंध उन बातों से होता है जिनका उसमें स्पष्ट रूप से उपबंध किया गया हो। अनुच्छेद 31(4) वास्तव में यह कहता है कि प्रतिकर के भुगतान से संबंधित अनुच्छेद 31(2) के स्पष्ट उपबंधों के उल्लंघन को न्यायिक विचारणीय विषय नहीं बनाया जाएगा। इसका उस किसी बात से कोई संबंध नहीं है जो उस खंड की भाषा में निहित रूप से विद्यमान हो सकती है। “लोक

प्रयोजन" का अस्तित्व निस्संदेह राज्य द्वारा अनिवार्य अधिग्रहण शक्तियों के प्रयोग की एक निहित शर्त है, किन्तु अनुच्छेद 31(2) की भाषा इसे अधिग्रहण की पूर्ववर्ती शर्त के रूप में स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं करती। यह यह मानकर चलता है कि अनिवार्य अधिग्रहण केवल "लोक प्रयोजन" के लिए ही हो सकता है, जो इस प्रकार ऐसे अधिग्रहण में अंतर्निहित है। अतः मेरे मत में अनुच्छेद 31(4) न्यायालय के क्षेत्राधिकार को इस प्रश्न की जाँच करने से नहीं रोकता कि क्या संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित विधि इस कारण वैध नहीं है कि अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए नहीं किया जा रहा है। यही दृष्टिकोण पटना उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों द्वारा भी ग्रहण किया गया है। संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण की प्रभुतासंपन्न शक्ति केवल लोक प्रयोजन हेतु अधिग्रहण करने की शक्ति है। प्रभुतासंपन्न सत्ता के पास निजी संपत्ति का अधिग्रहण कर उसे निजी व्यक्तियों को देने की कोई शक्ति नहीं है। लोक प्रयोजन स्वयं उस शक्ति की विषयवस्तु है। इस संबंध में "विलॉबी का संवैधानिक विधि (पृष्ठ 795) का उल्लेख किया जा सकता है। उसमें कहा गया है :-

"व्यक्तियों के मध्य, कोई आवश्यकता, चाहे वह कितनी ही महान क्यों न हो, कोई आपातस्थिति, चाहे वह कितनी ही आसन्न क्यों न हो, कोई सुधार, चाहे वह कितना ही मूल्यवान क्यों न हो, कोई अस्वीकृति, चाहे वह कितनी ही असहयोगपूर्ण क्यों न हो, कोई हठ, चाहे वह कितना ही अविवेकपूर्ण क्यों न हो, अथवा प्रतिकर के कोई प्रस्ताव, चाहे वे कितने ही अत्यधिक क्यों न हों, किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति के एक इंच भाग से भी वंचित करने के लिए विवश अथवा बाध्य नहीं कर सकते।"

लोक प्रयोजन "प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण" अभिव्यक्ति की उसी परिभाषा का एक आवश्यक घटक है, जैसा कि निकोलस तथा अन्य संवैधानिक विधि-लेखकों द्वारा दिया गया है, यद्यपि प्रतिकर भुगतान का दायित्व उस परिभाषा की विषयवस्तु नहीं है, बल्कि उसे न्यायिक निर्वचन द्वारा उसमें जोड़ा गया है। अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति का प्रयोग लोक प्रयोजन के अस्तित्व पर सशर्त है और ऐसा होने के कारण यह शर्त अनुच्छेद 31(2) का कोई स्पष्ट उपबंध नहीं है, बल्कि वह शक्ति की विषयवस्तु में स्वयं अन्यत्र विद्यमान है और वास्तव में यही वह धारणा है जिस पर अनुच्छेद के इस खंड का आधार है।

इस चर्चा का परिणाम यह है कि अनुच्छेद 31(4) का क्षेत्र केवल अनुच्छेद 31(2) के स्पष्ट उपबंधों तक सीमित है और न्यायालय लोक प्रयोजन हेतु संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित किसी विधि में निहित प्रतिकर संबंधी उपबंधों की सीमा अथवा पर्याप्तता की परीक्षा नहीं कर सकते, किन्तु अनुच्छेद 31(4) के निरोधात्मक उपबंध किसी भी प्रकार से

न्यायालय की उस शक्ति को प्रभावित नहीं करते जिसके द्वारा वह यह देख सके कि अधिग्रहण लोक प्रयोजन हेतु किया गया है या नहीं। इस खंड के उपबंध न्यायालय की उस शक्ति का भी अपहरण नहीं करते जिसके द्वारा वह यह परीक्षण कर सके कि विधि बनाने वाली विधायिका ने सूचियों के अंतर्गत अपनी विधिनिर्माण शक्ति के प्रयोग में कार्य किया है अथवा उसने केवल कोई अन्य विधि बना दी है, यद्यपि उसने प्रकटतः किसी ऐसे विधायी शीर्ष के अंतर्गत अपनी शक्ति का प्रयोग किया है जिसका उपयोग उस विधिनिर्माण के समर्थन में नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक नवीन अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी का संबंध है, वे केवल उन अधिनियमों को न्यायालय की पहुँच से परे कर देते हैं जो संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित हों और जो संविधान के भाग III के किसी उपबंध का उल्लंघन कर सकते हों; दूसरे शब्दों में, ऐसे अधिनियमों की वैधता को चुनौती देने के लिए संविधान के अनुच्छेद 13(2) का सहारा नहीं लिया जा सकता।

अनुच्छेद 31(4) के क्षेत्राधिकार का निर्धारण कर लेने के उपरांत, अब विवादित अधिनियम को अनुच्छेद 31(4) द्वारा प्रदान किए गए संरक्षण की सीमा का परीक्षण करना सुविधाजनक है।

श्री दास अपने इस तर्क में काफी सीमा तक सही हैं — इस बिंदु को विद्वान महान्यायवादी द्वारा गंभीरतापूर्वक चुनौती नहीं दी गई — कि प्रतिकर के विषय में चुनौती दी गई विधि कुछ व्यक्तियों तथा कुछ मामलों में अत्यधिक अन्यायपूर्ण अथवा असमानतापूर्ण है और कुछ मामलों में प्रतिकर पूर्णतः मायावी है। जैसा भी हो, संविधान स्पष्ट शब्दों में इन विषयों की न्यायालय में जाँच को निषिद्ध करता है। उसी संविधान सभा ने, जिसने प्रतिकर के भुगतान के संबंध में अनुच्छेद 31(2) में प्रत्याभूतियाँ प्रदान कीं तथा प्रत्याभूत अधिकार के प्रवर्तन हेतु अनुच्छेद 32 में उपचार उपलब्ध कराया, बिहार तथा अन्य जमींदारी संपदाओं के मामले में वह उपचार वापस ले लिया और उसके स्थान पर अनुच्छेद 31(3) एवं 31(4) की प्रक्रिया प्रतिस्थापित कर दी, जिसका अनुपालन उन विधियों को वैध एवं प्रभावी बनाने के लिए पर्याप्त होगा। आक्षेपित विधि चाहे हमारे न्यायबोध के प्रति कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, हमारे लिए प्रतिकर की मात्रा के प्रश्न पर उसकी विषयवस्तु की परीक्षा करना संभव नहीं है। यह उपयुक्त विधायिका के लिए है कि वह यह देखे कि क्या वह उसके कुछ ऐसे अन्यायपूर्ण उपबंधों का पुनरीक्षण कर सकती है, जो न्याय की सभी धारणाओं के प्रतिकूल हैं तथा मायावी प्रकृति के हैं। अनुच्छेद 31(4) के उपबंधों द्वारा न्यायालयों के हाथ बँधे हुए हैं

और जिसे संविधान ने स्पष्ट शब्दों में न्यायिक परीक्षण से परे घोषित किया है, उसे इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से न्यायिक परीक्षण योग्य नहीं बनाया जा सकता कि वही विषय-वस्तु, जिसे स्पष्ट रूप से वर्जित किया गया है, किसी अन्य प्रविष्टि में निहित रूप से समाविष्ट मानी जाए और इस कारण परीक्षण के लिए खुली हो। तथापि, इन उपबंधों में से कोई भी न्यायालय की उस शक्ति को प्रतिबंधित नहीं करता जिसके द्वारा वह ऐसे अन्य विषयों की जाँच कर सके, जिनका संज्ञान खंड (4) तथा अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी के उपबंधों द्वारा स्पष्ट रूप से अपहृत नहीं किया गया है।

अतः निर्धारण हेतु महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि क्या संपदाओं का अधिग्रहण किसी लोक प्रयोजन के लिए है, और यदि ऐसा नहीं है, तो विधि को निश्चित रूप से असंवैधानिक ठहराया जा सकता है। श्री दास ने तर्क किया, और मेरे मत में सही तर्क किया, कि निजी संपत्ति के अधिग्रहण के लिए विधिनिर्माण की अधिकारिता का प्रयोग केवल लोक प्रयोजन हेतु ही किया जा सकता है। वह संघ का प्रयोजन हो सकता है, अथवा राज्य का प्रयोजन, अथवा कोई अन्य लोक प्रयोजन। निजी संपत्ति का अधिग्रहण निजी प्रयोजन हेतु नहीं किया जा सकता। प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधिनिर्माण का अधिकार लोक प्रयोजन के अस्तित्व को पूर्वधारित करता है और तर्क यह है कि अधिनियम के पीछे कोई लोक प्रयोजन नहीं था। उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने इस तर्क को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि संपदाओं के अधिग्रहण के समर्थन में लोक प्रयोजन का प्रश्न संविधान सभा द्वारा निहित रूप से निर्णीत किया जा चुका था और इसलिए न्यायालय इस विषय में नहीं जा सकता था। शियरर, न्यायमूर्ति ने निम्नलिखित कहा :-

“मेरे मत में, हम यह कहने से प्रतिबंधित हैं कि संपदाओं एवं काश्तकारी-अधिकारों का अधिग्रहण ऐसे प्रयोजन के लिए अधिग्रहण नहीं है। कि यह ऐसा है, इसका निर्णय स्वयं संविधान सभा द्वारा किया जा चुका है।” यह निर्णय अनुच्छेद 31 के खंड (4) एवं (6) के उपबंधों को दृष्टिगत रखते हुए दिया गया, जिनका निर्वचन इस अर्थ में किया गया कि संविधान सभा ने इस विधिनिर्माण को अपनी स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की थी। न्यायमूर्ति रूबेन ने निम्नलिखित अभिमत व्यक्त किया :-

यह निर्णय अनुच्छेद 31 के खंड (4) एवं (6) के उपबंधों को दृष्टिगत रखते हुए दिया गया, जिनका निर्वचन इस अर्थ में किया गया कि संविधान सभा ने इस विधिनिर्माण को अपनी स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की थी। न्यायमूर्ति रूबेन ने निम्नलिखित अभिमत व्यक्त किया:-

“अनुच्छेद 31 के खंड (2) से यह स्पष्ट है कि संविधान सभा ने अनिवार्य अधिग्रहण के लिए दो आवश्यकताओं को अनिवार्य माना, अर्थात् लोक प्रयोजन तथा प्रतिकर का उपबंध। संविधान सभा द्वारा खंड (4) एवं (6) के अंतर्गत प्रदान किया गया संरक्षण केवल दूसरी आवश्यकता तक सीमित था। अतः स्पष्टतः संविधान सभा का विचार था कि दूसरी आवश्यकता के अंतर्गत संरक्षण की आवश्यकता नहीं थी, अर्थात् संविधान सभा भूमि के राष्ट्रीयकरण को स्वयं में ही लोक प्रयोजन का गठन करने वाला मानती थी।”

“अतः मैं यह धारण करूँगा कि अनुच्छेद 31 के खंड (2) के अर्थ के भीतर आक्षेपित अधिनियम के लिए एक लोक प्रयोजन विद्यमान है।”

न्यायमूर्ति दास ने निम्नलिखित कहा :-

“मेरे विचार में, भारत के संविधान में स्वयं यह स्पष्ट संकेत विद्यमान है कि ‘लोक प्रयोजन’ अभिव्यक्ति को व्यापक एवं समग्र अर्थ में समझा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह संकेत भी विद्यमान है कि संविधान का निर्माण करने वाली तथा भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संविधान सभा स्वयं आक्षेपित अधिनियम की प्रकृति वाले विधिनिर्माण के अस्तित्व से अवगत थी। यह अनुच्छेद 31 के खंड (4) से स्पष्ट है। वास्तव में, भूमि सुधार विधेयक संविधान के प्रारंभ के समय लंबित था यदि उस समय लंबित विधिनिर्माण लोक प्रयोजन हेतु नहीं था, तो यह वास्तव में आश्चर्यजनक होता कि संविधान सभा ने अनुच्छेद 31 के खंड (4) के उपबंधों के माध्यम से ऐसे विधिनिर्माण को संरक्षित करने का प्रयास किया। मेरे विचार में यह कहा जा सकता है कि संविधान सभा द्वारा ऐसा निहित उद्घोष किया गया था कि ऐसा विधिनिर्माण लोक प्रयोजन हेतु था और न्यायालय ऐसे उद्घोष को तब तक सम्मान देंगे जब तक यह प्रदर्शित न कर दिया जाए कि उसमें कोई असंभवता निहित है।”

“उपर्युक्त कारणों से, मैं यह धारण करता हूँ कि आक्षेपित अधिनियम लोक प्रयोजन के अभाव के कारण विफल नहीं होता।”

विद्वान अधिवक्ता ने उच्च न्यायालय के इस दृष्टिकोण को चुनौती दी और तर्क किया कि संविधान का अनुच्छेद 31(4) इस बिंदु पर कोई उत्तर नहीं है तथा अधिनियम इस कारण दोषपूर्ण है कि वह इस प्रश्न पर मौन है कि जमींदारियों का अधिग्रहण क्यों किया जा रहा था; कि उसने केवल किरायों के अवरोधन का उपबंध किया, जो जमींदारों द्वारा वसूल किए जाने के स्थान पर सरकार के कोष में चले जाते, बिना इसके कि भोगधारियों को कोई लाभ प्राप्त

हो; कि निजी संपत्ति का अधिग्रहण केवल राज्य के राजस्व में वृद्धि करने के लिए नहीं किया जा सकता; तथा यह कि इस अधिनियम से जो एकमात्र प्रयोजन ज्ञात होता है, वह समुदाय के किसी वर्ग को कोई समतुल्य लाभ पहुँचाए बिना व्यक्तियों के एक बड़े वर्ग का विनाश करना है। यह कहा गया है कि बिहार में 13,35,000 भूमिधर एवं काश्तकारी-अधिकार धारक हैं और यदि एक औसत परिवार में चार व्यक्तियों को माना जाए, तो इस विधिनिर्माण द्वारा पचपन लाख लोग विनष्ट हो जाएँगे, जबकि रैयतों को किसी भी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि हस्तांतरित की जाने वाली परती भूमि को छोड़कर समस्त भूमि रैयतों के कब्जे एवं खेती में है और उनसे वसूल किए जाने योग्य किराये का कोई भाग उनके लाभ हेतु रूपांतरित नहीं किया जा रहा है। यह इंगित किया गया है कि परती भूमि गाँववासियों की पशु-चराई एवं चारागाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त थी और वास्तव में संपदाओं का अधिग्रहण जनता के एक बड़े भाग को उनकी आजीविका के साधनों से वंचित करके एक यंत्र-प्रधान एवं लालफीताशाही से ग्रस्त महाभूमिधर की सृष्टि करने के उद्देश्य से किया गया था।

विद्वान अधिवक्ता ने आगे कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण सत्तारूढ़ दल की नीति हो सकता है, किन्तु यह ऐसा लोक प्रयोजन नहीं है जिसमें समुदाय को लाभ सम्मिलित हो। इस संबंध में *हमाबाई प्रमजी पेटिट बनाम सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया*⁽¹⁾ के निर्णय का संदर्भ दिया गया, जिसमें यह अभिलक्षित किया गया था कि "लोक प्रयोजन" वाक्यांश, उसका जो भी अर्थ हो, ऐसे प्रयोजन को अवश्य सम्मिलित करता है, अर्थात् ऐसा उद्देश्य अथवा लक्ष्य, जिसमें व्यक्तियों के विशेष हित के विपरीत समुदाय के सामान्य हित का प्रत्यक्ष एवं महत्वपूर्ण संबंध हो। यह तर्क किया गया कि आक्षेपित अधिनियम "लोक प्रयोजन" की इस परिभाषा के अंतर्गत नहीं आता। कूली की 'संवैधानिक सीमाएँ' — खंड ॥ के पृष्ठ 744 का भी संदर्भ दिया गया, जिसमें निम्नलिखित कहा गया है :-

"प्रयोजन लोक प्रयोजन होना चाहिए तथा उसका संबंध जनता की आवश्यकताओं अथवा सुविधा से होना चाहिए, और सामान्य लोक नीति का कोई कारण अन्य हस्तांतरणों को वैध बनाने के लिए पर्याप्त नहीं होगा जब वे विद्यमान निहित अधिकारों से संबंधित हों।"

अंततः यह तर्क किया गया कि अधिनियम में अथवा विधायिका के विचारों में ऐसा कुछ भी निश्चित अथवा ठोस नहीं था जिससे उस लोक प्रयोजन का कोई संकेत मिलता हो जिसके लिए संपदाओं का अधिग्रहण किया जा रहा था, और जो कुछ भी ज्ञात होता है वह

(1) (1951) 42 आई.ए 44.

केवल इतना है कि विधायिका स्वयं अपने उद्देश्य के विषय में सुनिश्चित नहीं थी तथा किसी भावी नीति की अस्पष्ट धारणा के आधार पर संपदाओं के अधिग्रहण का निर्देश दिया गया था।

मेरे मत में, विद्वान अधिवक्ता द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक तर्क की परीक्षा करना किसी उपयोगी प्रयोजन की पूर्ति नहीं करेगा। इस विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि प्रविष्टि 33, 36 एवं 42 के अंतर्गत विधिनिर्माण द्वारा निजी संपत्ति का अधिग्रहण केवल संघ के प्रयोजनों, अथवा राज्य के प्रयोजनों, अथवा किसी लोक प्रयोजन हेतु ही किया जा सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि अधिनियम में स्वयं स्पष्ट शब्दों में उस सटीक प्रयोजन का उल्लेख किया जाए जिसके लिए संपत्ति ली जा रही है, बशर्ते कि अधिनियम की संपूर्ण प्रवृत्ति एवं अभिप्राय से यह ज्ञात हो सके कि संपत्ति का अधिग्रहण या तो राज्य के प्रयोजनों के लिए अथवा लोक प्रयोजनों के लिए किया जा रहा था तथा उसका उद्देश्य व्यापक समुदाय को लाभ पहुँचाना था। यह स्वीकार किया जा सकता है कि वर्तमान अधिनियम यह प्रकट नहीं करता कि संपदाओं के राज्य सरकार में निहित हो जाने के पश्चात् विधायिका अंततः क्या करेगी। संभवतः राज्य सरकार ने अभी तक यह निश्चित नहीं किया है कि अधिग्रहित भूमि एवं काश्तकारी-अधिकारों का किस प्रकार तथा किन प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाएगा। अधिनियम की धारा 34 भूमि आयोग की स्थापना का उपबंध करती है, जिसका कार्य सरकार को उसकी कृषि नीति के संबंध में परामर्श देना होगा। जैसा भी हो, मुझे प्रतीत होता है कि विद्वान अधिवक्ता द्वारा अधिनियम के विरुद्ध की गई आलोचना के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि अधिनियम इस कारण विफल हो जाएगा कि उसमें लोक प्रयोजन का प्रतिपादन नहीं है। अधिनियम का शीर्षक "बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950" है। संविधान की प्रस्तावना कहती है कि भारत को उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय सुनिश्चित करने हेतु एक प्रभुतासंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में गठित किया गया है। राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 39 में निम्नलिखित कहा गया है :-

"राज्य विशेष रूप से अपनी नीति को इस दिशा में संचालित करेगा कि समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण इस प्रकार वितरित हो कि वे सर्वोत्तम रूप से सामान्य हित की सेवा कर सकें; तथा आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार न हो कि उससे संपत्ति एवं उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण सामान्य हानि का कारण बने।"

अब यह स्पष्ट है कि विशाल भूमि-खंडों का कुछ व्यक्तियों के हाथों में संकेंद्रण उस सिद्धांत के प्रतिकूल है जिस पर भारत का संविधान आधारित है। अतः आक्षेपित अधिनियम द्वारा परिकल्पित अधिग्रहण का उद्देश्य कुछ व्यक्तियों के हाथों में विशाल भूमि-खंडों एवं उत्पादन के साधनों के संकेंद्रण को समाप्त करना तथा राज्य के हाथों में आने वाले भौतिक संसाधनों के स्वामित्व एवं नियंत्रण का इस प्रकार वितरण करना है कि वे यथासंभव सामान्य हित की सेवा कर सकें। दूसरे शब्दों में संक्षेप में कहें तो, अधिनियम के पीछे का उद्देश्य बिहार की भूमि वितरण प्रणाली में व्यापक समुदाय के सामान्य लाभ हेतु सुधार लाना है, जैसा कि परिकल्पित किया गया है। विधायिका, जिसके मताधिकार द्वारा उसका अस्तित्व होता है, इस बात की सर्वोत्तम निर्णायक है कि समुदाय के लिए क्या हितकारी है, और इस न्यायालय के लिए यह कहना संभव नहीं है कि आक्षेपित अधिनियम द्वारा परिकल्पित अधिग्रहण के पीछे कोई लोक प्रयोजन नहीं था। अधिनियम का उद्देश्य निस्संदेह भारत के संविधान की अक्षर एवं भावना के अनुरूप है। यह तर्क भ्रान्तिपूर्ण है कि अधिनियम का उद्देश्य बिहार में पचपन लाख लोगों को विनष्ट करना है। इन सभी व्यक्तियों की खास कब्जे वाली समस्त भूमि को अधिग्रहण का विषय नहीं बनाया गया है। उनके गृहस्थ निवास, उनकी खनिज संपदा, संचालन में न होने वाली खानों को छोड़कर, अधिनियम के उपबंधों द्वारा गंभीर रूप से प्रभावित नहीं किए गए हैं। प्रतिकर संबंधी उपबंधों से पृथक, जिनके संबंध में छोटी जमींदारियों के मामलों में किसी भी प्रकार से यह नहीं कहा जा सकता कि वे मायावी प्रकृति के हैं, अधिनियम में उनके पक्ष में विभिन्न अन्य अपवाद भी किए गए हैं। वर्तमान विश्व परिस्थितियों में यह धारण करना कठिन है कि समुदाय के कल्याण हेतु अपनाए गए उपाय, तथा भूमि के राष्ट्रीयकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए विधिनिर्माण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य, लोक प्रयोजन के अभाव के आधार पर विफल हो सकते हैं। "लोक प्रयोजन" वाक्यांश का निर्वचन उस समय की भावना के अनुसार किया जाना चाहिए जिसमें विशेष विधिनिर्माण अधिनियमित किया गया हो और इस प्रकार निर्वचित किए जाने पर संपदाओं का अधिग्रहण लोक प्रयोजन हेतु किया गया माना जाना चाहिए।

तथापि, ये टिप्पणियाँ किराये की बकाया राशियों के अधिग्रहण पर लागू नहीं होतीं। अधिनियम के प्रत्यक्ष अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इन बकाया राशियों के पचास प्रतिशत का अधिग्रहण जमींदारों के निजी प्रयोजन हेतु था और शेष पचास प्रतिशत या तो राज्य के राजस्व की पूर्ति के लिए था अथवा जमींदारों को प्रतिकर के भुगतान हेतु साधन सुनिश्चित करने के लिए। इसका उद्देश्य अधिग्रहणकर्ता के मूल्य भुगतान संबंधी दायित्व का निर्वहन

करना है। यही टिप्पणियाँ अधिनियम की धारा 23(फ) पर भी लागू होती हैं। वह उपबंध प्रतिकर के भुगतान संबंधी अधिनियम के उपबंधों को आंशिक रूप से निष्प्रभावी करने के उद्देश्य से बनाया गया है। अनुच्छेद 31 के खंड (4) द्वारा इन धाराओं की अवैधता के विरुद्ध कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है।

विद्वान महान्यायवादी ने तर्क किया कि बकाया राशियों का अधिग्रहण का अधिग्रहण था और उसके लिए दिया गया प्रतिकर बकाया राशि का पचास प्रतिशत था। खेद है कि मैं इस सुझाव को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। यह विधि का सुव्यवस्थित सिद्धांत है कि व्यक्तियों की संपत्ति का राज्य द्वारा अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति के अंतर्गत केवल राज्य के राजस्व में वृद्धि करने के प्रयोजन से अधिग्रहण नहीं किया जा सकता। “कूली (संवैधानिक सीमाएँ खंड II, पृष्ठ 113 में)” कहा है कि “संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण का सिद्धांत समुदाय के समग्र हित के व्यक्तिगत नागरिक पर श्रेष्ठ दावे पर आधारित है, किन्तु यह केवल उन्हीं मामलों में लागू होता है जहाँ निजी संपत्ति लोक उपयोग हेतु अपेक्षित हो अथवा लोक कल्याण द्वारा आवश्यक हो, और ऐसा कोई उदाहरण ज्ञात नहीं है जिसमें इसे केवल विक्रय अथवा अन्य प्रकार से राजस्व उत्पन्न करने के प्रयोजन से लिया गया हो, तथा ऐसी शक्ति का प्रयोग व्यक्तिगत अधिकार का पूर्णतः विनाशकारी है। प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण के अधिकार के अंतर्गत धन लेना, जबकि उसके लिए बाद में धन में ही प्रतिकर देना हो, वस्तुतः एक बाध्यकारी ऋण से अधिक या कम कुछ नहीं है। धन, अथवा वह जो सामान्य व्यवहार में धन के रूप में प्रयुक्त होता है और जिसे सरकार कराधान द्वारा प्राप्त कर सकती है, तथा *वादगत अधिकार, जो केवल धन उत्पन्न करने पर ही उपयोगी हो सकते हैं*, इस शक्ति के अंतर्गत नहीं लिए जा सकते।”

विलिस ने अपनी पुस्तक 'संवैधानिक विधि' के पृष्ठ 816 पर यही मत व्यक्त किया है। निकोल्स ने 'एमिनेंट डोमेन' (खंड I, पृष्ठ 97 पर) में इसके विपरीत मत व्यक्त किया गया है और *सिनसिनाटी बनाम लुइसविल आदि, रेल कंपनी*⁽¹⁾ के निर्णय का संदर्भ दिया गया है। तथापि, इस वाद के परीक्षण से यह प्रकट नहीं होता कि उसमें ऐसा कोई सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था। उस मामले में यह धारण किया गया था कि अग्नि बीमा अधिकारों को विनियमित करने वाले राज्य अधिनियम के प्रवर्तन को प्रतिबंधित करने हेतु विधेयक कनास राज्य में एक वैध विधि थी। उस मामले में यह निर्णय करना आवश्यक नहीं था कि अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति के अंतर्गत राज्य को वादगत अधिकारों अथवा धन के अधिग्रहण की

(1) 223 यू.एस. 390.

शक्ति प्राप्त है या नहीं, किन्तु यह गंभीरतापूर्वक विवादित नहीं किया जा सकता कि ऐसा अधिग्रहण एक बाध्यकारी ऋण के समान है तथा वांछित परिणाम संपत्ति के प्रभुतासंपन्न अथवा अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति की अपेक्षा राज्य की पुलिस शक्ति के प्रयोग द्वारा अधिक उपयुक्त रूप से प्राप्त किया जा सकता है, और ऐसे मामले में प्रतिकर वही धनराशि होगी जो ली जा रही है तथा वादगत अधिकार के मामले में वह धनराशि होगी जो उससे प्राप्त हो सकती है। इस स्थिति में यह नहीं माना जा सकता कि बकाया राशियों के पचास प्रतिशत को इस अधिग्रहण के लिए उस अभिव्यक्ति के किसी भी अर्थ में प्रतिकर कहा जा सकता है। वास्तविक स्थिति यह है कि राज्य ने समस्त बकाया राशियाँ अपने अधीन ले लीं और उनमें से पचास प्रतिशत लौटाने तथा शेष को जब्त करने का निर्णय किया। इस अधिग्रहण की वैधता का निर्णय संपदाओं के अधिग्रहण से स्वतंत्र रूप से किया जाना चाहिए। इसका भूमि सुधार अथवा किसी लोक प्रयोजन से कोई संबंध नहीं है। यह उसी स्थिति में है जिस स्थिति में जमींदारों को देय अन्य ऋण अथवा उनकी अन्य चल संपत्तियाँ हैं, जिनका अधिग्रहण करना अधिनियम का उद्देश्य नहीं था। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, इस अधिग्रहण के समर्थन में एकमात्र प्रयोजन उन कुछ जमींदारों को प्रतिकर देने हेतु राजस्व एकत्र करना है जिनकी संपदाएँ अधिगृहीत की जा रही हैं। यह प्रयोजन "लोक प्रयोजन" वाक्यांश की किसी भी परिभाषा, चाहे वह कितनी ही व्यापक क्यों न हो, के अंतर्गत नहीं आता और अतः इस सीमा तक विधि असंवैधानिक है।

इस उपबंध में निहित लोक प्रयोजन के एक या दो उदाहरण इसके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर देंगे। अपील संख्या 299/1951 में, 26 सितंबर, 1950 को दरभंगा राज की बकाया राशि रुपये 30,81,967 थी। इस राशि का आधा भाग राज को देय है और शेष आधा जब्त माना गया है। राजा पी. सी. लाल के मामले (अपील संख्या 330/1951) में देय किराया रुपये 10,26,103 था, तथा अपील संख्या. 339 of 1951 में यह राशि रुपये 9,52,937 है।

इसके पश्चात् यह तर्क किया गया कि आक्षेपित अधिनियम संविधान के साथ छल है और इसलिए शून्य है। यह कहा गया कि अधिनियम संविधान का अनुपालन करने का दिखावा करते हुए वास्तव में उससे बच निकलता है और उसका अतिक्रमण करता है; कि जब अधिनियम यह कहता है कि वह प्रतिकर के भुगतान का उपबंध करता है, तब वह केवल संविधान के अनुपालन का दिखावा करता है, किन्तु वास्तव में उसने युक्तियों एवं उपायों द्वारा प्रतिकर के अप्रदान की योजना निर्मित की है। अधिनियम के कुछ जब्तीकारी प्रकृति के

उपबंधों का संदर्भ दिया गया, जिनका इस निर्णय में पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। धारा 9 का उल्लेख किया गया, जिसके अंतर्गत विकास की प्रक्रिया में चल रही और अभी कोई आय उत्पन्न न करने वाली खदानें भी प्रतिकर के भुगतान के बिना राज्य में निहित हो जाती हैं। उन वनों अथवा वृक्षों के संबंध में भी कोई प्रतिकर देय नहीं बनाया गया है, जो निहित होने की तिथि पर कोई आय उत्पन्न नहीं कर रहे थे। संक्षेप में यह तर्क किया गया कि अधिनियम का उद्देश्य जमींदारों की संपत्तियों का अधिग्रहण स्वयं जमींदारों के धन से ही प्रतिकर (कथित रूप से) का भुगतान करके करना था और कुछ मामलों में उन्हें न केवल अपनी संपदाएँ बिना किसी प्रतिफल के छोड़नी पड़तीं, बल्कि यदि अधिनियम में विनिर्दिष्ट सिद्धांत लागू किए जाएँ, तो उन्हें अतिरिक्त रूप से राज्य को कुछ राशि भी देनी पड़ती। दरभंगा महाराजा के मामले में यह इंगित किया गया कि उनकी जमींदारी राज्य सरकार द्वारा बिना कुछ भुगतान किए अधिग्रहीत कर ली जाएगी, बल्कि महाराजा को अपनी ही धनराशि में से छह लाख रुपये सरकार को देने पड़ेंगे। 951 का मामला संख्या 330 (राजा पी. सी. लाल) में कहा गया कि सरकार जमींदारी निःशुल्क प्राप्त कर लेगी, जबकि 951 का मामला संख्या 339 में राज्य को जमींदारी के साथ-साथ बकाया राशियों में से ढाई लाख रुपये भी प्राप्त होंगे, और 1951 का मामला संख्या 331 (छोटा नागपुर अपील) में जमींदारी केवल रुपये 14,000 की अत्यल्प राशि के भुगतान पर अधिग्रहीत कर ली जाएगी। सार्वजनिक कोष से जमींदारों को कुछ भी देय नहीं होगा। न्यायमूर्ति शियरर की निम्नलिखित टिप्पणियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया :-

“यह स्पष्ट है कि विधायिका इतनी आशावादी है कि वह यह आशा करती है कि यह सुधार संभवतः बिना कोई बड़ा ऋण उठाए भी किया जा सकता है। मेरे मत में यह निष्कर्ष अपरिहार्य है कि उद्देश्य प्रांत की विशाल संपदाओं का अधिग्रहण बिना किसी प्रतिकर अथवा अत्यंत अपर्याप्त प्रतिकर के साथ करना है और उनसे प्राप्त होने वाले पर्याप्त लाभों के माध्यम से, क्रमशः शेष संपदाओं एवं काश्तकारी-अधिकारों का अधिग्रहण करना है। दूसरे शब्दों में, इस विशेष वर्ग से संबंधित अपेक्षाकृत अल्पसंख्या को बिना प्रतिकर अथवा अत्यंत अपर्याप्त प्रतिकर के साथ अधिग्रहित किया जाना है ताकि जब विशाल बहुसंख्या का अधिग्रहण किया जाए, तब उन्हें ऐसा प्रतिकर प्राप्त हो जो अपर्याप्त न हो और संभवतः अनेक मामलों में पर्याप्त से भी अधिक हो।”

श्री दास ने प्रबलतापूर्वक तर्क किया कि यह अधिनियम उस गणतांत्रिक संविधान के साथ छल है जिसने किसी भी व्यक्ति को प्रतिकर के भुगतान के बिना उसकी संपत्ति से वंचित

न करने का वचन दिया था; कि यह प्रतिकर के भुगतान हेतु विस्तृत उपबंध करने का दिखावा करता है, किन्तु युक्तियों एवं उपायों द्वारा उसके भुगतान से बच निकलने का उपबंध करता है। *मोरन प्रोप्राइटरी लिमिटेड बनाम न्यू साउथ वेल्स के उप-कर आयुक्त*⁽¹⁾ के एक उद्धरण का संदर्भ दिया गया, जो निम्नलिखित शब्दों में है :-

“ऐसे मामलों की कल्पना की जा सकती है जिनमें धारा 96 के अंतर्गत वित्तीय सहायता प्रदान करने की शक्ति का कथित प्रयोग मात्र आभासी हो। किसी राज्य को धन द्वारा सहायता प्रदान करने के बहाने अथवा दिखावे के अंतर्गत, अधिनियम का वास्तविक सार एवं उद्देश्य केवल कराधान के संबंध में भेदभाव उत्पन्न करना हो सकता है। ऐसा अधिनियम राष्ट्रमंडल संसद की शक्तियों से परे माना जा सकता है। माननीय न्यायाधीशगण सावधानी की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं क्योंकि ऐसा मामला संभवतः कभी उत्पन्न न हो, और इसलिए भी कि संवैधानिक विषयों से संबंधित मामलों में उनकी सामान्य प्रथा केवल उतना ही निर्णय करने की होती है जितना उनका कर्तव्य अपेक्षित करता है। वे केवल इतना और जोड़ेंगे कि जिस दृष्टिकोण को वे इस विषय में ग्रहण करते हैं, उसके अनुसार वे कुछ विधायी उपाय, जिन्हें न्यायमूर्ति इवाट ने अपने प्रबल असहमति-निर्णय में अधिकार-बाह्य के रूप में आपत्तिजनक बताया था, वास्तव में आभासी हो सकते हैं, और ऐसे अधिनियमों को माननीय न्यायाधीशगण की स्वीकृति प्राप्त नहीं है।”

यह तर्क किया गया कि किसी अधिनियम को संविधान के साथ छल घोषित किया जा सकता है, उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर जो निगमों अथवा कार्यपालिका निकायों के मामलों में लागू होते हैं, चाहे वे अपनी वैधानिक शक्तियों का अतिक्रमण करें अथवा उनका दुरुपयोग करें। इस संबंध में *फॉक्स बनाम चेस्टर का बिशप में मुख्य न्यायाधीश एबॉट*⁽²⁾ की टिप्पणियों पर अवलंबन किया गया, जो निम्नलिखित शब्दों में हैं :-

हमारा निर्णय कानून 31 एलिज. सी। 6 की भाषा और विधि के उस सुविख्यात सिद्धांत पर आधारित है, जिसके अनुसार संसद के किसी अधिनियम के उपबंधों से किसी भी प्रकार के छल या युक्ति द्वारा बचा नहीं जा सकता।

फॉक्स बनाम चेस्टर का बिशप⁽¹⁾ में यह कहा गया था कि विधि के साथ छल, अथवा संसद के किसी अधिनियम का अपमान, हो सकता है, यद्यपि विधि की भाषा एवं पाठ में ऐसे

(1) [1940] ए.सी. 838 पृष्ठ पर 858.

(2) 107 ई.आर.520 पृष्ठ पर 527.

(1) 6. ई.आर. 581

किसी छल का उल्लेख न किया गया हो। *वेस्टमिंस्टर कॉर्पोरेशन बनाम लंदन एंड नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे*⁽²⁾ में यह अभिलक्षित किया गया था :-

“यह विधिसम्मत रूप से स्थापित है कि कोई लोक निकाय, जिसे निगम को प्रदत्त शक्तियों जैसी वैधानिक शक्तियाँ प्रदान की गई हों, उसे यह सावधानी रखनी चाहिए कि वह अपनी शक्तियों का अतिक्रमण अथवा दुरुपयोग न करे। उसे अपने प्रति निहित प्राधिकार की सीमाओं के भीतर रहना चाहिए। उसे सद्भावना में कार्य करना चाहिए। और उसे युक्तियुक्त रूप से कार्य करना चाहिए। अंतिम प्रतिपादन दूसरे में निहित है, यदि प्रथम में नहीं।”

महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह बनाम दरभंगा नगरपालिका के अध्यक्ष में यह इंगित किया गया था कि एक रुपये का प्रस्ताव एवं स्वीकृति, भूमि अधिग्रहण अधिनियम के अंतर्गत भूमि का मूल्य चुकाए बिना स्वामित्व प्राप्त करने का एक आभासी प्रयास था। *अलेक्जेंडर बनाम ब्राम*⁽⁴⁾ में यह अभिलक्षित किया गया था कि यदि यह प्रतीत होता कि इस निष्कर्ष पर पहुँचने हेतु पर्याप्त आधार विद्यमान हैं कि विवादित विलेख श्री ब्राम की ओर से अधिनियम से बच निकलने एवं उससे बचाव करने के उद्देश्य से एक युक्ति था, जो प्रत्यक्षतः एवं आभासी रूप से उससे पृथक् दिखाई देते हुए भी वस्तुतः उसका उल्लंघन करने के आशय से किया गया था, तो अपीलकर्ताओं के पक्ष में दृष्टिकोण अपनाया जा सकता था।

ये सभी सिद्धांत विधिसम्मत रूप से स्थापित हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या उनका वर्तमान मामले में कोई अनुप्रयोग है। किसी राज्य की विधायिका पर *बेईमान* उद्देश्य आरोपित करना तथा यह धारण करना किसी भी प्रकार से सरल नहीं है कि उसने बिहार भूमि सुधार अधिनियम पारित करते समय दुर्भावना एवं द्वेषपूर्वक कार्य किया अथवा इस विधि को अधिनियमित करके संविधान के साथ छल किया। यह संभव है कि अधिनियम के कुछ उपबंध कुछ व्यक्तियों अथवा कुछ जमींदारों पर कठोर प्रभाव डालें तथा यदि वे बिहार विधायिका की विधायी शक्ति की सीमा से परे हों तो दोषपूर्ण हों, किन्तु केवल इस परिस्थिति से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संपूर्ण अधिनियम संविधान के साथ छल है। इस आधार से कि आधा दर्जन जमींदारों की संपदाओं का प्रतिकर के भुगतान के बिना अधिग्रहण किया जा सकता है, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संपूर्ण अधिनियम संविधान के साथ छल है अथवा प्रतिकर के भुगतान संबंधी सभी उपबंध मायावी हैं। अधिक से अधिक

(2) 17 आइ.ए. 90

(4) 44 ई.आर. 205

इतना ही कहा जा सकता है कि वे केवल इससे प्रभावित विशाल वर्ग के कुछ व्यक्तियों के मामलों में ही मायावी हैं।

तथापि, मेरे मत में धारा 23(फ) आभासी विधिनिर्माण का एक उदाहरण है। इसे सूची III की विधायी प्रविष्टि 42 द्वारा प्रदत्त शक्ति के अंतर्गत अधिनियमित किया गया है। यह विधिसम्मत रूप से स्थापित है कि सीमित शक्तियों वाली संसद वह कार्य अप्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती जिसे वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती। (देखें: साउथ ऑस्ट्रेलिया बनाम द कॉमनवेल्थ⁽¹⁾ और मैडेन बनाम नेल्सन और पोर्ट शेपर्ड आर. डब्ल्यू. कंपनी⁽²⁾ उप-संघीय कराधान आयुक्त (एन.एस.डब्ल्यू.) बनाम डब्ल्यू.आर. मोरन प्रोप्राइटरी लिमिटेड⁽³⁾ में निम्नलिखित अभिलक्षित किया गया था :-

“जहाँ विधिनिर्माण करने वाला प्राधिकार सीमित अथवा परिसीमित स्वरूप का हो, वहाँ स्पष्टतः यह आवश्यक हो सकता है कि यह निर्धारित करने के उद्देश्य से कि विधायिका वास्तव में क्या कर रही है, विधिनिर्माण की वास्तविक विषयवस्तु की कुछ कठोरता के साथ परीक्षा की जाए। ऐसे मामलों में न्यायालय को आक्षेपित विधिनिर्माण के बाह्य स्वरूप से अत्यधिक प्रभावित नहीं होना चाहिए उस मामले में इस न्यायालय ने उस सुप्रसिद्ध सिद्धांत को लागू किया कि किसी विधायिका पर बाध्यकारी संवैधानिक निषेधों के संबंध में, वह विधायिका केवल वही परिणाम प्राप्त करने के लिए अप्रत्यक्ष विधि अपनाकर उस निषेध की अवज्ञा नहीं कर सकती वही प्रश्न यह भी हो सकता है कि क्या ऐसा विधिनिर्माण, जो प्रथम दृष्टया संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुरूप प्रतीत होता है, वास्तव में आभासी अथवा प्रच्छन्न है। ऐसे मामलों में न्यायालय को नामों, स्वरूप एवं बाह्य रूपों के पीछे जाकर यह निर्धारित करना पड़ सकता है कि विधिनिर्माण आभासी अथवा प्रच्छन्न है या नहीं।”

यहाँ आक्षेपित उपबंध प्रतिकर के भुगतान के सिद्धांत निर्धारित करके नहीं बनाया गया है, बल्कि वास्तविकता में इसका उद्देश्य अनेक व्यक्तियों को उनकी संपत्ति से प्रतिकर के भुगतान के बिना वंचित करना है। राज्य विधायिका को प्रविष्टि 42 के अंतर्गत संपत्ति से वंचित किए गए व्यक्तियों के हित में अधिनियम बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। उस शक्ति के अंतर्गत उन्हें ऐसा अधिनियम बनाने की अनुमति नहीं दी जा सकती जो उन

(1) 65 सी.एल.आर.373

(2) [1899] ए.सी. 626

(3) 61 सी.एल.आर.735 पृष्ठ पर 793

व्यक्तियों के प्रतिकूल प्रभाव में कार्य करे तथा जिसका उद्देश्य उन्हें एक सीमा तक प्रतिकर के अधिकार से वंचित करना हो।

इस संबंध में अब विद्वान महान्यायवादी के उस तर्क की परीक्षा करना सुविधाजनक है जो सूची III की विधायी प्रविष्टि 42 के निर्वचन से संबंधित है। उन्होंने तर्क किया कि इस शीर्ष के अंतर्गत संसद अथवा राज्य विधायिका के लिए ऐसी विधि बनाना खुला है जो ऐसे सिद्धांत निर्धारित करे जिनका परिणाम प्रतिकर के अप्रदान में हो अथवा जिनका परिणाम किसी भी प्रकार का प्रतिकर न देने में हो। मैं इस प्रविष्टि के ऐसे किसी निर्वचन से किसी भी प्रकार सहमत नहीं हो सकता। यह प्रविष्टि इस प्रकार है :-

“संघ अथवा राज्य के प्रयोजनों के लिए अथवा किसी अन्य लोक प्रयोजन के लिए अधिगृहीत अथवा अधिग्रहित संपत्ति के प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांत तथा वह रूप एवं रीति जिसमें ऐसा प्रतिकर दिया जाएगा।”

यह विधायी शीर्ष प्रतीत होता है कि समवर्ती सूची में स्पष्ट रूप से न केवल उस स्वीकृत विधि-सिद्धांत को दृष्टिगत रखते हुए सम्मिलित किया गया है कि संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के मामलों में प्रतिकर दिया जाना आवश्यक है, बल्कि अनुच्छेद 31(2) के स्पष्ट एवं अनिवार्य उपबंधों को ध्यान में रखते हुए भी, जिनके अनुसार संपत्ति के अधिग्रहण अथवा अधिग्रहण के लिए प्राधिकृत करने वाली कोई विधि उस स्थिति में शून्य होगी यदि वह अधिगृहीत संपत्ति के लिए प्रतिकर के भुगतान का उपबंध नहीं करती अथवा प्रतिकर की राशि निश्चित नहीं करती या उन सिद्धांतों तथा उस रीति को विनिर्दिष्ट नहीं करती जिनके आधार पर एवं जिस प्रकार प्रतिकर का निर्धारण एवं भुगतान किया जाना है। प्रविष्टि 42 में विधिनिर्माण की शक्ति ऐसे प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों को अधिनियमित करने तथा उसके भुगतान के लिए है। अधिनियमित किए जाने वाले सिद्धांत ऐसे प्रतिकर के निर्धारण तथा उसके भुगतान के लिए हैं। अधिनियमित किए जाने वाले सिद्धांत उस संपत्ति के समतुल्य मूल्य के निर्धारण के लिए हैं जिसे अधिगृहीत किया गया है। यह संभव है कि समतुल्य मूल्य का निर्धारण कुछ समान नियमों के आधार पर परिकलन हेतु छोड़ दिया जाए; उदाहरणार्थ, यह निर्धारित किया जा सकता है कि प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांत किराया-आधार अथवा संपत्ति के बाजार मूल्य आदि होंगे। किन्तु यह कल्पना करना कठिन है कि प्रतिकर के अप्रदान अथवा प्रतिकर के भुगतान को निष्प्रभावी करने के लिए भी कोई सिद्धांत हो सकते हैं। प्रतिकर के अप्रदान के लिए किसी सिद्धांत के विनिर्देशन की आवश्यकता नहीं होती। यह साधारण कथन कि कोई प्रतिकर नहीं दिया जाएगा, उद्देश्य की पूर्ति के लिए

पर्याप्त है। प्रतिकर के निर्धारण के ऐसे किसी सिद्धांत का मुझे ज्ञान नहीं है जिसका परिणाम उसके अप्रदान में हो, सिवाय इस विचाराधीन अधिनियम के। सभी विधायी शीर्षों का युक्तियुक्त निर्वचन किया जाना चाहिए और प्रविष्टि 42 के अंतर्गत प्रदत्त शक्ति एक सकारात्मक शक्ति है, जो प्रतिकर के भुगतान का परिणाम उत्पन्न करने के लिए दी गई है, न कि उसके अप्रदान के लिए। इस प्रविष्टि के प्रमुख शब्द "प्रतिकर" एवं "दिया जाएगा" हैं। जो कुछ भी प्रतिकर अथवा उसके दिए जाने से संबंधित नहीं है, उसे प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधिनिर्माण द्वारा न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। इस संबंध में *यूनाइटेड प्रोविंसेस बनाम अतीका बेगम*⁽¹⁾ का संदर्भ दिया गया, जिसमें यह धारण किया गया था कि विधायी शीर्ष "किरायों की वसूली" के वर्णनात्मक शब्द इतने व्यापक हैं कि वे किरायों की माफी के संबंध में भी विधिनिर्माण की अनुमति देते हैं, तथा भारत सरकार अधिनियम 1935 की मद 22 के अंतर्गत "वन" शीर्ष में न केवल वनीकरण बल्कि वनों की कटाई के संबंध में भी विधिनिर्माण की शक्ति सम्मिलित है और "मत्स्यपालन" शीर्ष में मत्स्य पकड़ने पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने के संबंध में भी विधिनिर्माण की शक्ति सम्मिलित होगी। मेरे मत में, इन तुलनाओं का प्रविष्टि 42 में प्रयुक्त भाषा के निर्वचन पर कोई अनुप्रयोग नहीं है। ये प्रविष्टियाँ प्रविष्टि 42 के समान विषयवस्तु वाली नहीं हैं। संभवतः इस बिंदु पर अधिक समीपस्थ उदाहरण *ऑटारियो के अटॉर्नी-जनरल बनाम डोमिनियन के अटॉर्नी-जनरल*⁽²⁾ के निर्णय में मिलता है। वहाँ प्रश्न यह था कि क्या "व्यापार एवं वाणिज्य का विनियमन" नामक विधायी शीर्ष में उसे समाप्त कर देने की शक्ति भी सम्मिलित है। प्रिवी काउंसिल के माननीय न्यायाधीशगण ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ कीं, जो प्रतिवेदन के पृष्ठ 363 पर उपलब्ध हैं :-

"विनियमन करने की शक्ति इस धारणा को पूर्वस्वीकार करती है कि जिस वस्तु को विनियमन का विषय बनाया जाना है उसका अस्तित्व बना रहेगा। इस दृष्टिकोण से, माननीय न्यायाधीशगण कनाडाई अधिनियम के निषेधात्मक अधिनियमों को व्यापार एवं वाणिज्य का विनियमन मानने में असमर्थ हैं.... किसी व्यापार के निषेध अथवा निरोध और उसके विनियमन अथवा शासन के बीच स्पष्ट भेद है।"

प्रतिकर के भुगतान से संबंधित कोई प्रविष्टि किसी भी अर्थ में प्रतिकर के अप्रदान की विधायी शक्ति को सम्मिलित नहीं करती। इस विधायी शीर्ष का संपूर्ण उद्देश्य प्रतिकर के भुगतान का उपबंध करना है, न कि संपत्ति की जब्ती करना।

(1) [1940] एफ.सी.आर 110 पृष्ठ पर 135

(2) [1896] ए.सी.348

यह उपबंध कि रैयतों आदि के लाभ हेतु कार्यों की लागत के कारण शुद्ध आय में से चार प्रतिशत से बारह और आधा प्रतिशत तक की कटौती की जाएगी, वास्तविक तथ्यों से कोई संबंध नहीं रखता। यहाँ तक कि पूर्ववर्ती उपबंध, अर्थात् खंड (डी), जिसमें प्रबंधन व्यय के रूप में बीस प्रतिशत तक कटौती किए जाने का प्रावधान है, भी अपनी संपूर्णता में वास्तविक परिस्थितियों से कोई वास्तविक संबंध नहीं रखता। जैसा कि पूर्व में इंगित किया जा चुका है, पर्याप्त संख्या के मामलों में यह आंशिक रूप से जब्तीकारी प्रकृति का है। खंड (फ) के अंतर्गत सकल आय से की जाने वाली कटौती मात्र कृत्रिम प्रकृति की कटौती है, जिसका संपूर्ण उद्देश्य कटौतियों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना और इस प्रकार प्रतिकर के अप्रदान की स्थिति उत्पन्न करना है। मेरे मत में, ऐसा विधिनिर्माण सूची III की प्रविष्टि 42 द्वारा अनुमत नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि बारह और आधा प्रतिशत के स्थान पर यह घोषित किया जाता कि उस मद में सत्तर प्रतिशत की कटौती की जाएगी, तो क्या कोई भी युक्तियुक्त व्यक्ति यह कह सकता है कि ऐसा विधिनिर्माण प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों अथवा प्रतिकर के भुगतान संबंधी विधिनिर्माण है? अतः मेरे मत में यह उपबंध अधिनियम में प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधायी शक्ति के आभासी प्रयोग के रूप में सम्मिलित किया गया है और इसी आधार पर असंवैधानिक है। इस शक्ति का प्रयोग किसी अन्य ऐसे विधायी शीर्ष के अंतर्गत नहीं किया गया है जो राज्य विधायिका को ऐसी विधि बनाने के लिए प्राधिकृत करता हो। संविधान द्वारा प्रदत्त किसी शक्ति के अंतर्गत प्रकटतः किया गया विधिनिर्माण, किन्तु जो वास्तविकता एवं तथ्यतः उस शक्ति की विषयवस्तु के अंतर्गत नहीं आता, केवल आभासी रूप से संवैधानिक प्रतीत होता है, परंतु वास्तव में संवैधानिक नहीं होता। [देखें *क्यूबेक बनाम क्वीन इंश्योरेंस कंपनी*⁽¹⁾; *रसेल बनाम द क्वीन*⁽²⁾] इस संबंध में प्रिवी काउंसिल के *मैडेन बनाम नेल्सन एंड फोर्ट शेपर्ड आर. डब्ल्यू. कंपनी*⁽³⁾ के निर्णय का भी संदर्भ दिया जा सकता है। अतः यह खंड असंवैधानिक विधिनिर्माण है, जिसे सूची II की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधायी शक्ति के प्रयोग द्वारा आभासी रूप से वैध बनाया गया है।

श्री दास ने तर्क किया कि यदि अधिनियम के कुछ उपबंध *अधिकार-बाह्य* हैं, तो संपूर्ण अधिनियम को ही *अधिकार-बाह्य* घोषित किया जाना चाहिए और यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि विधायिका का आशय इसे ऐसे खंडित रूप में पारित करने का था जो अंततः शेष रह जाए। ऐसे सभी मामलों में वास्तविक निर्णय हेतु प्रश्न यह होता है कि जो भाग शेष रहता

(1) (1878) अपील मामला 1090.

(2) 7 (1882) अपील मामला 841

(3) [1899] ए.सी. 626.

है, क्या वह उस भाग के साथ, जिसे अवैध घोषित किया गया है, इतनी अविच्छेद्य रूप से संबद्ध है कि शेष भाग स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में नहीं रह सकता, अथवा जैसा कि कभी-कभी कहा गया है, क्या समस्त विषय के निष्पक्ष अवलोकन पर यह माना जा सकता है कि विधायिका उस भाग को, जो शेष रहता है, उस भाग को अधिनियमित किए बिना, जो *अधिकार-बाह्य* है, किसी भी स्थिति में अधिनियमित करती। संपूर्ण अधिनियम को समग्र रूप से देखने पर मुझे प्रतीत होता है कि अधिनियम के दोषपूर्ण उपबंध उसके वैध भाग के साथ इतने अविच्छेद्य रूप से संबद्ध नहीं हैं कि वे शेष भाग को भी प्रभावित अथवा नष्ट कर दें। इस मामले में यह उपधारणा नहीं की जा सकती कि विधायिका उन दो या तीन उपबंधों को, जिन्हें अवैध घोषित किया जाना आवश्यक है, हटाकर अधिनियम को अधिनियमित नहीं करती।

श्री दास ने यह एक गौण बिंदु भी उठाया कि बिहार अधिनियम प्रवर्तनीय नहीं है। इस संबंध में अधिनियम की धारा 32(2) का संदर्भ दिया गया, जो इस प्रकार है :-

“प्रतिपूर्ति निर्धारण आलेख के अंतिम रूप से प्रकाशित होने के अनुसार इस प्रकार देय प्रतिकर की राशि का भुगतान नकद में अथवा बांडों में अथवा आंशिक रूप से नकद तथा आंशिक रूप से बांडों में किया जाएगा। बांड या तो परक्राम्य होंगे अथवा अपरक्राम्य एवं अहस्तांतरणीय होंगे और उनमें उल्लिखित व्यक्ति को चालीस समान किशतों में देय होंगे तथा निर्गमन की तिथि से प्रति वर्ष ढाई प्रतिशत की दर से ब्याज वहन करेंगे।”

यह तर्क किया गया कि चूँकि प्रतिकर के भुगतान के लिए कोई तिथि निर्दिष्ट नहीं की गई है और उसमें उल्लिखित किशतों के बीच कोई अंतराल निर्धारित नहीं किया गया है तथा यह भी उल्लेख नहीं किया गया है कि कितनी राशि नकद में और कितनी बांडों में देय होगी, इसलिए अधिनियम प्रवर्तित नहीं किया जा सकता। अधिनियम की धारा 43 राज्य सरकार को अधिनियम के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने हेतु नियम बनाने का अधिकार प्रदान करती है। खंड (पी) इस प्रकार है :-

“वह अनुपात जिसमें प्रतिकर नकद एवं बांडों में देय होगा तथा धारा 32 की उपधाराओं (2) एवं (3) के अंतर्गत ऐसे प्रतिकर के भुगतान की रीति।”

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि धारा 32(2) को धारा 43 में निहित उपबंधों के साथ पढ़ा जाए, तो अधिनियम ने अपने उपबंधों को प्रवर्तित करने हेतु पर्याप्त व्यवस्था कर दी है और इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि अधिनियम अप्रवर्तनीय है।

श्री दास द्वारा उठाया गया अंतिम बिंदु यह था कि अधिनियम की धारा 32(2) शून्य है, क्योंकि उसमें विधायिका ने अपने विधायी कृत्यों का परित्याग कार्यपालिका के पक्ष में कर दिया है। इस उपबंध के विरुद्ध द्विविध आक्षेप किया गया। प्रथम, यह कहा गया कि संविधान ने ससम अनुसूची की सूची III की प्रविष्टि 42 में प्रतिकर के भुगतान के सिद्धांतों तथा उसके भुगतान की रीति एवं स्वरूप के संबंध में विधि बनाने का अधिकार विधायिका में निहित किया है; दूसरे शब्दों में, इन विषयों को विधायिका की सावधानी, निर्णय एवं बुद्धिमत्ता पर छोड़ दिया गया है, अतः उसे इन विषयों को कार्यपालिका को प्रत्यायोजित करने की कोई शक्ति नहीं थी। द्वितीय, यह तर्क किया गया कि धारा 32(2) ने कार्यपालिका को आवश्यक विधायी शक्ति प्रत्यायोजित कर दी है, जो करने में वह सक्षम नहीं थी। इस संबंध में इस न्यायालय की विशेष संदर्भ संख्या 1 1950 में व्यक्त राय का संदर्भ दिया गया।

जिन विषयों के प्रत्यायोजन का आरोप लगाया गया है, वे निम्नलिखित हैं :-

1. नकद भुगतान एवं बांडों द्वारा किए जाने वाले भुगतान, चाहे वे परक्राम्य हों अथवा अपरक्राम्य, के अनुपात का निर्धारण।
2. इन बांडों की अवधि का निर्धारण।
3. विभिन्न किशतों के मध्य अंतराल की अवधि का निर्धारण।

धारा यह अधिनियमित करती है कि देय प्रतिकर का भुगतान नकद में अथवा बांडों में अथवा आंशिक रूप से नकद तथा आंशिक रूप से बांडों में किया जाएगा। अतः यह उस सिद्धांत का निर्धारण करती है कि प्रतिकर का भुगतान इन दो रूपों में किया जाएगा। यह आगे अधिनियमित करती है कि बांड या तो परक्राम्य होंगे अथवा अपरक्राम्य एवं अहस्तांतरणीय होंगे। अतः यह उन बांडों की प्रकृति का भी निर्धारण करती है जो निर्गत किए जाएँगे। यह आगे अधिनियमित करती है कि यदि भुगतान बांडों में किया जाता है, तो वह चालीस समान किशतों में किया जाएगा। यह स्पष्ट है कि बांडों के विमोचन की अवधि किशतों की अवधि के साथ सहवर्ती होगी। यह भी अधिनियमित किया गया है कि बांड प्रति वर्ष ढाई प्रतिशत की दर से ब्याज वहन करेंगे। जो विषय कार्यपालिका पर छोड़ा गया है, वह यह प्रश्न है कि प्रतिकर का कितना अनुपात नकद में और कितना बांडों में दिया जाएगा तथा किशतों के अंतराल का निर्धारण। मुझे प्रतीत होता है कि इस सीमा तक किया गया प्रत्यायोजन इस न्यायालय के *बॉम्बे राज्य बनाम नरोत्तमदास जेठाबाई*⁽¹⁾ के निर्णय तथा प्रिवी काउंसिल के

(1) [1951] एस.सी.आर 51

माननीय न्यायाधीशगण के *क्वीन बनाम बुराह*⁽²⁾ के निर्णय को दृष्टिगत रखते हुए अनुमेय है। विधायिका ने प्रतिकर के भुगतान की विधि एवं रीति के प्रश्न पर अपना मन लागू किया। उसने अपनी नीति तथा व्यापक सिद्धांत निर्धारित कर दिए। उसने नीति के महत्वपूर्ण विषयों का निर्धारण करने के पश्चात् राज्य सरकार को विवरणात्मक विषयों का निर्धारण करने की शक्ति प्रदान की। यह नहीं कहा जा सकता कि विधायिका ने विधिनिर्माण के विषय पर अपना मन लागू नहीं किया अथवा कोई नीति निर्धारित नहीं की। प्रतिकर का कितना भाग नकद में अथवा बांडों में देय होगा अथवा उसका संपूर्ण भुगतान नकद में किया जाएगा, यह ऐसा विषय है जिसे केवल राज्य सरकार ही निर्धारित कर सकती थी और इसी प्रकार किशतों के अंतराल तथा बांडों की विमोचनीयता की अवधि भी विवरणात्मक विषय थे, जिनका निर्धारण कार्यपालिका अपनी नियम-निर्माण शक्ति के प्रयोग में अधिक उपयुक्त रूप से कर सकती थी। इस मामले में यह नहीं कहा जा सकता कि किसी आवश्यक विधायी शक्ति का प्रत्यायोजन कार्यपालिका को कर दिया गया है अथवा यह कि विधायिका ने उस न्यास का निर्वहन नहीं किया जिसे संविधान ने उसमें निहित किया था। यदि नियम-निर्माण प्राधिकारी अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है अथवा भुगतान को मायावी बनाने का कोई प्रयास करता है, तो संपत्ति से वंचित स्वामी उपचार से वंचित नहीं रहेगा।

उपर्युक्त कारणों से, मैं इस मत का हूँ कि अधिनियम की धारा 32(2) को इस आधार पर दोषपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता कि वह विधायी शक्ति के अनियंत्रित प्रत्यायोजन का उदाहरण है।

श्री दास के तर्क 1951 का वाद सं. 319, 327, 330 एवं 332 तथा अन्य उन मामलों में, जिनमें वे उपस्थित हुए, समान थे।

1951 का वाद सं. 309 एवं 328 में उपस्थित श्री चौधरी ने अनेक बिंदु उठाए, जिनमें से कुछ श्री पी. आर. दास के तर्कों से आच्छादित हैं, जिनकी मैं पूर्व में चर्चा कर चुका हूँ। शेष तर्क मुझे निराधार प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें से कुछ का उल्लेख करना आवश्यक है जिन पर विद्वान अधिवक्ता ने विशेष बल दिया। श्री चौधरी ने तर्क किया कि प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों तथा ऐसे प्रतिकर के भुगतान की विधि एवं रीति से संबंधित विधिनिर्माण का क्षेत्र पहले से ही भूमि अधिग्रहण अधिनियम द्वारा आच्छादित था, जो संसद का एक विद्यमान विधि था, और इसलिए राज्य विधायिका इस क्षेत्र में प्रवेश कर प्रतिकर के भुगतान के सिद्धांतों पर विधिनिर्माण नहीं कर सकती थी। इस तर्क में वास्तव में कोई बल

(2) (1877) 5 आइ.ए.178

नहीं है, क्योंकि भूमि अधिग्रहण अधिनियम में अधिनियमित प्रतिकर के निर्धारण संबंधी उपबंध केवल उन अधिग्रहणों पर लागू होते हैं जो उस अधिनियम के अंतर्गत अधिसूचना द्वारा किए जाते हैं। उसके उपबंधों का स्थानीय अथवा केंद्रीय विधियों के अंतर्गत किए गए अधिग्रहणों पर कोई अनुप्रयोग नहीं होता, जब तक कि उन विधियों के उपबंधों द्वारा उन्हें विशेष रूप से लागू न किया गया हो।

उनके द्वारा प्रस्तुत एक अन्य बिंदु, कि संविधान के अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी लंबित मामलों को प्रभावित नहीं कर सकते, गंभीरतापूर्वक विचारणीय नहीं है, क्योंकि उन अनुच्छेदों के मुखपृष्ठ पर ही प्रतिगामी प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार, मैं उनके इस तर्क को भी निराधार ही मानता हूँ कि किसी अधिनियम के उपबंधों के अंतर्गत जमींदारों की संपदाओं का राज्य को हस्तांतरण पंजीकरण की अपेक्षा करता है। उनके द्वारा गंभीरतापूर्वक बल दिया गया एकमात्र अन्य बिंदु यह है कि बिहार विधायिका को संविधान के अनुच्छेद 293 में विनिर्दिष्ट प्रक्रिया का अनुपालन किए बिना बांड निर्गत करने की शक्ति नहीं थी। इस बिंदु के संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि बांडों के निर्गमन का चरण अभी तक आया ही नहीं है। जब राज्य विधायिका ऐसे बांड निर्गत करेगी जो अप्रवर्तनीय हों अथवा जिन्हें निर्गत करने की उसे क्षमता न हो, तब यह तर्क संभवतः उठाया जा सकता है।

श्री चक्रवर्ती, जो 1951 का वाद सं.326, 337 एवं 344 में उपस्थित हुए, ने तर्क किया कि न्यास-संपत्तियों के संबंध में बिहार विधायिका को पूर्ण प्रतिकर के भुगतान के बिना उनका अधिग्रहण करने की शक्ति नहीं थी, क्योंकि इससे कुछ शैक्षिक एवं परोपकारी संस्थाएँ गंभीर रूप से प्रभावित होंगी। तथापि, वे यह इंगित करने में असमर्थ रहे कि बिहार विधायिका को न्यास-संपत्तियों के अधिग्रहण की शक्ति क्यों प्राप्त नहीं थी।

श्री राघव शरण, जो 1951 का वाद सं. 310, 311 एवं 329 में उपस्थित हुए, ने एक नवीन तर्क उठाया कि अधिनियम युक्तियुक्त एवं न्यायसंगत न होने के कारण उच्चतम न्यायालय को उसे इस आधार पर शून्य घोषित करने का अधिकार क्षेत्र प्राप्त है। वे अपने तर्क का किसी युक्तिसंगत आधार पर समर्थन करने में असमर्थ रहे। सक्षम विधायिका द्वारा पारित किसी अधिनियम की संवैधानिक वैधता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि बनाई गई विधि युक्तियुक्त अथवा न्यायसंगत नहीं है।

वाद सं.1951 के 307, 313, 315, 320, 321, 322 एवं 331 तथा याचिका सं. 1951 के 612 में उपस्थित अधिवक्ताओं ने केवल श्री पी. आर. दास द्वारा उठाए गए बिंदुओं को ही अपनाया।

परिणामस्वरूप, बिहार भूमि सुधार अधिनियम के अंतर्गत धारा 4(बी) एवं 23(फ) में निहित उपबंधों को असंवैधानिक घोषित किया जाता है। अधिनियम का शेष भाग वैध है। अतः अपीलें ऊपर इंगित सीमा तक छोड़कर स्वीकृत की जाती हैं। राज्य सरकार के विरुद्ध परमादेश जारी किया जाएगा कि वह उपर्युक्त दोनों उपबंधों को, जिन्हें असंवैधानिक ठहराया गया है, प्रभावी न करे।

अनुच्छेद 32 के अंतर्गत 1951 के याचिका सं. 612 इस आधार पर खारिज की जाती है कि वह पोषणीय नहीं है; उसमें किसी भी मौलिक अधिकार के उल्लंघन का अभिकथन नहीं किया गया है। वाद सं. 1951 के 18 of 1950 एवं 299 में उत्तरदाताओं की ओर से कोई उपस्थिति नहीं हुई तथा अपील को स्वीकृत किए जाने का कोई विरोध नहीं किया गया। अतः वे तदनुसार स्वीकृत की जाती हैं। इन अपील एवं याचिका में से किसी में भी मैं लागत के संबंध में कोई आदेश नहीं दूँगा।

मुखर्जी न्यायमूर्ति.—मुझे अपने विद्वान भाई महाजन न्यायमूर्ति के निर्णय का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ और मैं उनके द्वारा निकाले गए निष्कर्षों से पूर्णतः सहमत हूँ। मेरे मत में, बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950, अधिनियम की धारा 4(बी) एवं 23(फ) में निहित प्रावधानों को छोड़कर, असंवैधानिक नहीं है और केवल इन्हीं प्रावधानों को शून्य एवं अप्रवर्तनीय माना जाना चाहिए।

जहाँ तक बिहार भूमि सुधार अधिनियम की धारा 23(फ) का संबंध है, मेरे विद्वान भाई ने अपना निर्णय इस आधार पर आधारित किया है कि इस खंड का प्रावधान संविधान के साथ छल का गठन करता है, और यद्यपि इस प्रावधान को अधिनियमित करते समय विधायिका ने संविधान की सप्तम अनुसूची की विधायी सूची III की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत अपनी शक्तियों का प्रयोग करने का दावा किया, वास्तविकता में यह उस शक्ति का आभासी प्रयोग है, जिसके अंतर्गत ऐसा कार्य किया गया है जिसकी उस प्रविष्टि में बिल्कुल परिकल्पना नहीं की गई है और जो उसके क्षेत्राधिकार से बाहर है। मैं इस संबंध में अपने विद्वान भाई द्वारा अपनाई गई तर्क-पद्धति से सहमत हूँ और इसके अतिरिक्त ऐसा कुछ नहीं है जो मैं उपयोगी रूप से जोड़ सकूँ।

जहाँ तक धारा 4(ब) का संबंध है, मेरे विद्वान भाई ने यह धारण किया है कि इस खंड का प्रावधान असंवैधानिक है क्योंकि इससे किसी लोक प्रयोजन का बिल्कुल भी प्रकटीकरण नहीं होता। लोक प्रयोजन की आवश्यकता राज्य द्वारा संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण में अथवा जिसे राज्य की प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति का प्रयोग कहा जाता है,

निहित है। यह शर्त संविधान के अनुच्छेद 31(2) के प्रावधान में अंतर्निहित है और यद्यपि वर्तमान मामले में अधिनियमन अनुच्छेद 31 के खंड (3) की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है तथा इस प्रकार उस अनुच्छेद के खंड (4) के प्रवर्तन को आकर्षित करता है, मेरे विद्वान भाई ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि खंड (4) द्वारा उत्पन्न निषेध केवल प्रतिकर के प्रश्न तक सीमित है और लोक प्रयोजन के अस्तित्व अथवा आवश्यकता तक विस्तृत नहीं होता, जो यद्यपि उसमें अंतर्निहित है, तथापि अनुच्छेद के खंड (2) द्वारा स्पष्ट रूप से उपबंधित नहीं किया गया है। मेरे विचार से मैं यह मानने के लिए तैयार हूँ कि अनुच्छेद 31 का खंड (4) उन सभी विषयों से संबंधित है जिनका उपबंध खंड (2) में या तो स्पष्ट रूप से अथवा यहाँ तक कि परोक्ष रूप से भी किया गया है और परिणामतः लोक प्रयोजन के अस्तित्व का प्रश्न वर्तमान मामले में हमारी जाँच के क्षेत्राधिकार में नहीं आता। तथापि, तब भी मैं यह धारण करूँगा कि वही कारण, जिन्होंने मेरे विद्वान भाई को आक्षेपित अधिनियम की धारा 23(फ) को असंवैधानिक घोषित करने के लिए प्रेरित किया, समान रूप से, यदि अधिक बलपूर्वक नहीं, तो अधिनियम की धारा 4(ब) पर भी लागू होते हैं और अधिनियम के इस प्रावधान की संवैधानिक वैधता के संबंध में उनके निर्णय से सहमत होने में मुझे कोई संकोच नहीं है, यद्यपि मैं उसके समर्थन में भिन्न तर्क-पद्धति अपनाना अधिक उपयुक्त समझूँगा।

बिहार भूमि सुधार अधिनियम की धारा 4(ब) यह उपबंधित करती है कि अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत अधिसूचना के प्रकाशन के परिणामस्वरूप "किरायों के सभी बकाये..... तथा सभी उपकर, यदि उन पर कोई ब्याज देय हो, जो निहित होने की तिथि से पूर्व की किसी अवधि के लिए देय हों तथा जो संपदा अथवा भूधृति के संबंध में स्वामी अथवा भूधृतिधारक द्वारा वसूल किए जा सकते थे और जिनकी वसूली किसी परिसीमा विधि द्वारा वर्जित न हुई हो, राज्य में निहित हो जाएँगे तथा राज्य द्वारा वसूल किए जाएँगे।" इस खंड से संलग्न स्पष्टीकरण में आगे यह उपबंध किया गया है कि इस खंड के प्रयोजनों के लिए "किराये के बकाये" अभिव्यक्ति में ऐसे बकाये भी सम्मिलित होंगे जिनके संबंध में निहित होने की तिथि पर वाद लंबित थे अथवा जिनके संबंध में उस तिथि से पूर्व डिक्री प्राप्त की जा चुकी थी, साथ ही उन डिक्रीयों द्वारा अनुमत व्यय भी। अधिनियम की धारा 24 के अंतर्गत यह निर्देशित किया गया है कि किराये के इन बकायों का 50 प्रतिशत भाग अधिनियम के उपबंधों के अनुसार गणना की गई संपदा अथवा हित के लिए देय प्रतिकर राशि में जोड़ा जाएगा।

किराये के बकाये, चाहे वे डिक्रीयों में विलीन हो गए हों अथवा नहीं, जो अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत अधिसूचना की तिथि से पूर्व की अवधि के लिए भू-स्वामी को देय थे, निस्संदेह भू-स्वामी की संपत्ति थे, उसकी उस संपदा अथवा भूधृति में विद्यमान हित से पृथक, जो अधिग्रहण का विषय-वस्तु है। ऐसे बकाये किसी संपदा अथवा उसमें निहित हित के अधिग्रहण के सामान्य परिणामस्वरूप राज्य में निहित नहीं हो सकते थे, और विद्वान महान्यायवादी ने यह स्वीकार किया है कि संविधान का अनुच्छेद 31-ए इन किरायों के बकायों के संबंध में लागू नहीं होता। अतः किराये के बकाये बिहार भूमि सुधार अधिनियम के अंतर्गत पृथक एवं स्वतंत्र अधिग्रहण का विषय-वस्तु हैं, यदि इस प्रकार के मामलों में "अधिग्रहण" शब्द का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त माना जा सके।

यह विवादित नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक सरकार में राज्य की आवश्यकताओं के लिए नागरिकों की संपत्ति का अधिग्रहण करने का अंतर्निहित अधिकार निहित होता है और संवैधानिक प्रावधान इस शक्ति को प्रदान नहीं करते, यद्यपि वे सामान्यतः इसे सुरक्षा-उपबंधों से आवृत करते हैं। ये प्रतिबंध सर्वदा यह होते हैं कि जब निजी संपत्ति ली जाती है, तब उसका धनात्मक प्रतिकर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति राज्य की प्रभुतासंपन्न शक्ति का एक गुण है, जिसे प्राकृतिक विधि के उस सिद्धांत द्वारा संयमित माना जाता है जो उसके प्रयोग को प्रतिकर देने के कर्तव्य से संबद्ध करता है।

संभवतः इस धारणा के अधीन कि निजी संपत्ति की पवित्रता को उस समय सत्तारूढ़ दल के अनिश्चित सदुणों पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए, हमारे देश के संविधान-निर्माताओं ने इसे मूल अधिकारों में से एक के रूप में घोषित किया कि किसी भी संपत्ति का अधिग्रहण अथवा उस पर अधिकार लोक प्रयोजन के लिए तब तक नहीं किया जाएगा जब तक कि उसके अधिग्रहण का निर्देश देने वाली विधि अनुच्छेद 31(2) में विनिर्दिष्ट रीति से प्रतिकर का प्रावधान न करे। अनुच्छेद 31 का खंड (4) प्रतिकर देने के दायित्व को समाप्त नहीं करता; वह केवल यह उपबंधित करता है कि अनुच्छेद के खंड (3) में उल्लिखित विधियाँ प्रतिकर की राशि की अपर्याप्तता अथवा अधिनियम में उपबंधित उसके मूल्यांकन के सिद्धांत की अनुपयुक्तता के आधार पर न्यायिक परीक्षण से प्रतिरक्षित रहेंगी। तथापि, यह खंड इस बात की पूर्वधारणा करता है कि अधिनियमन, विधायिका को विधायी सूचियों की उपयुक्त प्रविष्टियों द्वारा प्रदत्त विधायी शक्ति के वैध प्रयोग का परिणाम है और यदि विधायिका इन प्रविष्टियों के बाहर कार्य करती है अथवा उनके अंतर्गत कार्य करने के बहाने ऐसा कुछ करती है जो उनकी

विषयवस्तु के प्रत्यक्ष विरोध में हो, तो अनुच्छेद 31 का खंड (4) ऐसे विधिनिर्माण को कोई संरक्षण प्रदान करने के लिए आहूत नहीं किया जा सकता।

वे सामान्य सिद्धांत, जो प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति को राज्य की अन्य शक्तियों से पृथक करते हैं, जिनके अंतर्गत किसी नागरिक के स्वामित्व संबंधी हित का त्याग अपेक्षित अथवा अधिरोपित किया जा सकता है, पर्याप्त रूप से सुविख्यात हैं। जैसा कि कूली ने अपनी पुस्तक *संवैधानिक सीमाएँ* में अभिलक्षित किया है, "संपत्ति की प्रत्येक ऐसी प्रजाति जिसकी लोक को आवश्यकता हो सकती है और जिसे सरकार किसी अन्य अधिकार के अंतर्गत विधिपूर्वक अधिग्रहित नहीं कर सकती, प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति के अंतर्गत ग्रहण एवं अधिग्रहीत किए जाने के अधीन है।" धन अपने आप में तथा वादाधिकार भी सामान्यतः अमेरिकी विधिवेत्ताओं द्वारा इस सूची से अपवर्जित किए गए हैं और इसके उचित कारण हैं। प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति के अंतर्गत इनमें से किसी को भी लेने की कोई संभावित आवश्यकता नहीं हो सकती। किसी नागरिक के हाथों में विद्यमान धन तक कराधान शक्ति के प्रयोग द्वारा पहुँचा जा सकता है; उसे न्यायिक आदेश के अंतर्गत दंडस्वरूप जब्त किया जा सकता है और हम ऐसे मामलों की भी कल्पना कर सकते हैं जहाँ राज्य अपनी 'पुलिस' शक्तियों के प्रयोग में किसी नागरिक के स्वामित्व वाले अथवा उसके हाथों में विद्यमान धन को इस आधार पर ग्रहण अथवा जब्त कर ले कि ऐसी निधि का उपयोग समुदाय के हित के प्रतिकूल अवैध प्रयोजनों के लिए किया जा सकता है। किन्तु, जैसा कि कूली ने इंगित किया है, प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति के अंतर्गत धन लेना, जबकि बाद में उसका प्रतिकर धन के रूप में ही देना अनिवार्य हो, बलात् ऋण से अधिक या कम कुछ भी नहीं हो सकता और यह कहना कठिन है कि यह सूची II की प्रविष्टि 36 में वर्णित संपत्ति के अधिग्रहण अथवा अधिग्रहण के शीर्ष के अंतर्गत आता है तथा उसकी सामान्य अर्थ-सीमा में समाविष्ट है।

विद्वान महान्यायवादी का कहना है कि वर्तमान मामले में अधिग्रहण का विषय-वस्तु धन नहीं बल्कि वादाधिकार हैं। मुझे प्रतीत होता है कि सिद्धांततः दोनों में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि वादाधिकार अधिग्रहण करने वाले प्राधिकरण के लिए तभी उपयोगी हो सकता है जब उससे धन प्राप्त किया जाए; अन्यथा वह पूर्णतः निरर्थक है।

तथापि, यह मान लेने पर भी कि सूची II की प्रविष्टि 36 धन अथवा वादाधिकार के अधिग्रहण को सम्मिलित करने के लिए पर्याप्त व्यापक है, मैं यह धारण करने में तनिक भी संकोच नहीं करता कि ऐसे अधिग्रहण के संबंध में प्रतिकर का प्रावधान करते समय विधायिका ने सूची III की प्रविष्टि 42 का आभासी उपयोग किया है और इस प्रकार उस

प्रविष्टि के उद्देश्य को पूर्णतः विफल कर दिया है। सूची III की प्रविष्टि 42 "संघ अथवा राज्य के प्रयोजनों के लिए अथवा किसी अन्य लोक प्रयोजन के लिए अधिगृहीत अथवा अभिग्रहित संपत्ति के प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों तथा उस रूप एवं रीति" का उल्लेख करती है "जिसमें ऐसा प्रतिकर दिया जाएगा।" यह विधायी शीर्ष का एक वर्णन है और मैं विद्वान महान्यायवादी से इस बात पर सहमत हूँ कि इस प्रविष्टि के अंतर्गत विधिनिर्माण की क्षमता का निर्णय करते समय हम उन सिद्धांतों की न्यायसंगतता अथवा उपयुक्तता से संबंधित नहीं हैं जिनके आधार पर किसी विशेष विधिनिर्माण के अंतर्गत प्रतिकर का मूल्यांकन किया जाना है और न ही हम उस रूप अथवा रीति की न्यायसंगतता अथवा अन्यथा से संबंधित हैं जिसमें ऐसा प्रतिकर दिया जाना है। तथापि, मैं विद्वान महान्यायवादी से, उन कारणों से जो मेरे विद्वान भाई ने अपने निर्णय में पहले ही दिए हैं, इस बात पर सहमत नहीं हूँ कि इस शीर्ष के अंतर्गत विधिनिर्माण में प्रतिकर का कोई प्रावधान करना आवश्यक नहीं है और यह कि ऐसा विधायी प्रावधान, जो यह घोषित करता है कि कोई प्रतिकर नहीं दिया जाएगा, इस विधायी शीर्ष के क्षेत्राधिकार में आता है। ऐसी व्याख्या स्वयं उस प्रविष्टि की भाषा द्वारा निषिद्ध है, जो प्रतिकर दिए जाने की बात करती है, न कि उसके निषेध अथवा अवरोध की। सभी आडम्बरों से रहित करने पर, आक्षेपित प्रावधान का वास्तविक परिणाम यह है कि राज्य सरकार के लिए यह संभव हो जाएगा कि वह अधिग्रहण की तिथि से पूर्व भू-स्वामी को देय किराये के बकायों के आधे भाग को बिना उसे किसी प्रकार का प्रतिकर दिए स्वयं अधिगृहीत कर ले। संपूर्ण को लेना और उसका आधा लौटा देना, वास्तव में आधा भाग बिना किसी प्रतिफल के लेने से अधिक या कम कुछ नहीं है और यह प्रत्यक्ष जब्ती है, चाहे उसे किसी भी आकर्षक रूप में आच्छादित अथवा प्रच्छन्न किया गया हो। अतः आक्षेपित प्रावधान वास्तव में किराये के बकायों के अधिग्रहण के लिए दिए जाने वाले प्रतिकर के निर्धारण का कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं करता और न ही वह भुगतान के रूप से संबंधित कोई बात कहता है, यद्यपि प्रत्यक्षतः वह दोनों का निर्धारण करने का दावा करता है। मेरे मत में, यह संविधान के साथ छल है और इस कारण यह विधिनिर्माण, जो आभासी स्वरूप का है, शून्य एवं अप्रवर्तनीय हो जाता है। विद्वान महान्यायवादी ने यह तर्क किया है कि विधायिका की सद्भावना अथवा दुर्भावना के प्रश्न में प्रवेश करना न्यायालय की क्षमता से परे है। एक अर्थ में यह सत्य है। यदि विधायिका सर्वशक्तिमान है, तो वे उद्देश्यमूलक कारण, जो उसे किसी विशेष विधि को अधिनियमित करने के लिए प्रेरित करते हैं, पूर्णतः अप्रासंगिक हैं; और दूसरी ओर, यदि उसमें क्षमता का अभाव है, तो उद्देश्यमूलक कारणों का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जब किसी विधायिका की शक्ति सीमित अथवा परिसीमित होती है और उसे विधायी

प्रविष्टियों द्वारा परिनिर्धारित क्षेत्र के भीतर कार्य करना होता है, तब यह प्रश्न कि क्या उन प्रविष्टियों के अंतर्गत कार्य करने का दावा करते हुए उसने वस्तुतः उनकी सीमाओं का अतिक्रमण कर दिया है और ऐसे कार्य किए हैं जो उन प्रविष्टियों के क्षेत्र के भीतर संपादित नहीं किए जा सकते, वास्तव में विधायिका की क्षमता को प्रभावित करने वाला प्रश्न है। ऐसे मामलों में, यद्यपि विधिनिर्माण किसी विशेष प्रविष्टि के अंतर्गत अधिनियमित किया गया प्रतीत होता है, यदि वह वास्तव में उसके बाहर है, तो वह शून्य होगा। राज्य की ओर से तर्क के दौरान यह सुझाव दिया गया कि वर्तमान मामले में सरकार अपनी अधिग्रहण शक्तियों के प्रयोग में किराये के बकायों का अधिग्रहण कर सकती थी और चूँकि वे बकाये अभी तक वसूल नहीं हुए थे, अतः सरकार के लिए यह पूर्णतः वैध एवं उचित था कि वह इन बकायों की वसूली में होने वाले श्रम एवं व्यय के प्रतिफलस्वरूप सकल राशि का आधा भाग काट ले। इसका अर्थ यह होगा कि विधायिका का आशय केवल सरकार को जमींदारों की किराये के बकायों की वसूली में सहायता करने में सक्षम बनाना था और उस सहायता के प्रतिफलस्वरूप, जो सरकार प्रदान करने वाली है, उसे वास्तव में देय बकायों के आधे भाग को अपने पास रखने का अधिकार दिया गया। यह विधायिका का वास्तविक आशय कदापि नहीं हो सकता था और मैं नहीं मानता कि संविधान द्वारा निर्मित विस्तृत विधायी सूचियों में कोई ऐसी प्रविष्टि है जो विधायिका को, ऋणग्रस्तता अथवा अन्य समान विशेष परिस्थितियों से पृथक, भू-स्वामी के वैध अधिकारों में इस प्रकार हस्तक्षेप करने तथा उस पर ऐसा भारयुक्त दायित्व आरोपित करने की शक्ति प्रदान करती हो, जिसके लिए वह सहमत पक्षकार नहीं है। इस प्रकार का विधिनिर्माण पूर्णतः नवीन है, जिसके समान उदाहरण का पूर्व में विरल ही दर्शन हुआ है। परिणामतः, मैं इस मामले में अपने विद्वान भाई महाजन न्यायमूर्ति द्वारा पारित आदेश से सहमत हूँ और ऊपर इंगित दो संशोधनों के अधीन अपीलों को स्वीकृत करता हूँ। व्ययों के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

दास न्यायमूर्ति.—वे कार्यवाहियाँ, जिनसे ये अपीलें उत्पन्न हुई हैं, बिहार के विभिन्न संपदा-स्वामियों द्वारा बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (बिहार अधिनियम संख्या XXX, 1950) की संवैधानिक वैधता को चुनौती देते हुए आरंभ की गई थीं, जिसे इस निर्णय में आगे "अधिनियम" कहा जाएगा।

26 जनवरी, 1950 को, जब हमारा संविधान प्रवृत्त हुआ, वह विधेयक जो अंततः अधिनियम बना, बिहार राज्य की विधायिका के समक्ष लंबित था। राज्य विधायिका द्वारा विधेयक पारित किए जाने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया। 11

सितंबर, 1950 को उस विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई और वह अधिनियम बन गया। अधिनियम के प्रावधानों का विश्लेषण एवं सारांश महाजन न्यायमूर्ति द्वारा अभी-अभी प्रदत्त निर्णय में किया जा चुका है और मेरे लिए उन बातों की पुनरावृत्ति करके इस निर्णय को भारयुक्त बनाना आवश्यक नहीं है। 25 सितंबर, 1950 को अधिनियम का पाठ, धारा 1(3) के अंतर्गत 24 सितंबर, 1950 की अधिसूचना सहित, राजपत्र में प्रकाशित किया गया, जिसके द्वारा अधिनियम को प्रवृत्त किया गया। अधिनियम की धारा 3 के अंतर्गत 25 सितंबर, 1950 की एक अधिसूचना, जिसके द्वारा कुछ निर्दिष्ट स्वामियों की संपदाएँ राज्य में निहित की गईं, अगले दिन राजपत्र में प्रकाशित की गईं। यह अधिसूचना राजपत्र में प्रकाशित होने के पश्चात्, उससे प्रभावित कुछ स्वामियों ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अंतर्गत अपेक्षित सूचना प्रदान करने के बाद बिहार के अधीनस्थ न्यायालयों में वाद संस्थित किए और यह घोषणा करने की प्रार्थना की कि अधिनियम असंवैधानिक एवं शून्य है तथा उनकी संपत्तियों पर उनका स्वामित्व अप्रभावित बना हुआ है। अन्य कुछ स्वामियों ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत उपयुक्त विनिर्दिष्ट आदेश, निर्देश अथवा आदेश जारी किए जाने की प्रार्थना करते हुए पटना उच्च न्यायालय में आवेदन प्रस्तुत किए। बिहार राज्य ने उन वादों में अपने लिखित कथन प्रस्तुत किए, जिन्हें उच्च न्यायालय ने अपने असाधारण मौलिक सिविल अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग में निस्तारण हेतु अपने समक्ष स्थानान्तरित कर लिया। वादों एवं आवेदनों की एक साथ सुनवाई की गई। चूँकि विवादित प्रश्नों में संविधान की व्याख्या से संबंधित गंभीर प्रश्न सम्मिलित थे, इसलिए वादों एवं आवेदनों को पटना उच्च न्यायालय की एक विशेष पीठ के समक्ष रखा गया और उनका निस्तारण 12 मार्च, 1951 को किया गया। सभी विद्वान न्यायाधीशों ने, किसी न किसी कारण से, स्वामियों के सभी मुख्य तर्कों को अस्वीकार कर दिया, किन्तु यह धारण किया कि अधिनियम इस कारण असंवैधानिक है कि वह स्वामियों को संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा प्रत्याभूत विधियों के समान संरक्षण से वंचित करता है। उच्च न्यायालय ने राज्य के इस अभिवचन को अस्वीकार कर दिया कि संविधान का अनुच्छेद 31(4), "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" शब्दों के कारण, अनुच्छेद 14 को, कम-से-कम प्रतिकर की कथित असमानता पर उसके अनुप्रयोग की सीमा तक, अपवर्जित कर देता है। अनुच्छेद 31(4) निम्नलिखित शब्दों में है :-

"यदि इस संविधान के प्रारंभ के समय किसी राज्य की विधायिका के समक्ष कोई विधेयक लंबित हो और उस विधायिका द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो तथा उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो गई हो, तब इस

संविधान में किसी बात के होते हुए भी, इस प्रकार स्वीकृत विधि को किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह खंड (2) के प्रावधानों का उल्लंघन करती है।”

बिहार राज्य ने संविधान के अनुच्छेद 132(1) के अंतर्गत पटना उच्च न्यायालय से इस न्यायालय में अपील करने की अनुमति प्राप्त की और हमारे समक्ष ये अपीलें प्रस्तुत कीं।

यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश राज्यों ने भी अपने-अपने राज्यों में जमींदारियों के उन्मूलन के लिए विधिनिर्माण किया था और उन विधियों की वैधता को भी उनसे प्रभावित स्वामियों द्वारा चुनौती दी गई थी। तथापि, उन राज्यों के संबंधित उच्च न्यायालयों ने संबंधित राज्य विधियों की वैधता को बनाए रखा और उससे पीड़ित स्वामी या तो अपील द्वारा अथवा अनुच्छेद 32 के अंतर्गत मौलिक आवेदन प्रस्तुत करके इस न्यायालय के समक्ष आए। उसी चरण पर संविधान सभा ने संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 पारित किया। उस अधिनियम की धाराएँ 4 एवं 5, जो हमारे प्रयोजन के लिए महत्वपूर्ण हैं, निम्नलिखित हैं :-

संविधान के अनुच्छेद 31 के पश्चात् निम्नलिखित अनुच्छेद अंतःस्थापित किया जाएगा और यह सदैव से अंतःस्थापित माना जाएगा, अर्थात् :-

इस भाग के पूर्वगामी प्रावधानों में किसी बात के होते हुए भी, राज्य द्वारा किसी संपदा अथवा उसमें निहित किसी अधिकार के अधिग्रहण के लिए अथवा ऐसे किसी अधिकार के उन्मूलन अथवा संशोधन के लिए उपबंध करने वाली कोई विधि इस आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी कि वह इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के साथ असंगत है अथवा उन अधिकारों का अपहरण करती है या उनका संक्षेपण करती है :

परंतु जहाँ ऐसी विधि किसी राज्य की विधायिका द्वारा निर्मित विधि हो, वहाँ इस अनुच्छेद के प्रावधान उस पर तब तक लागू नहीं होंगे जब तक कि ऐसी विधि, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे जाने के पश्चात्, उसकी स्वीकृति प्राप्त न कर ले।

(2) इस अनुच्छेद में,—

(क) “संपदा” अभिव्यक्ति का, किसी स्थानीय क्षेत्र के संबंध में, वही अर्थ होगा जो उस क्षेत्र में प्रवृत्त भू-धृति संबंधी विद्यमान विधि में उस अभिव्यक्ति अथवा उसके स्थानीय समतुल्य का है और इसमें कोई जागीर, इनाम अथवा मुताफी अथवा अन्य समान अनुदान भी सम्मिलित होगा;

(ख) "अधिकार" अभिव्यक्ति में, किसी संपदा के संबंध में, किसी स्वामी, उप-स्वामी, अधीन-स्वामी, भूधृतिधारक अथवा अन्य मध्यस्थ में निहित कोई अधिकार तथा भू-राजस्व के संबंध में कोई अधिकार अथवा विशेषाधिकार भी सम्मिलित होंगे।

5. धारा 4 द्वारा अंतःस्थापित संविधान के अनुच्छेद 31-ए के पश्चात् निम्नलिखित अनुच्छेद अंतःस्थापित किया जाएगा, अर्थात् :-

31-बी. अनुच्छेद 31-ए में निहित प्रावधानों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी भी अधिनियम अथवा विनियम अथवा उसके किसी प्रावधान को इस आधार पर शून्य नहीं माना जाएगा, अथवा कभी शून्य हुआ माना नहीं जाएगा, कि ऐसा अधिनियम, विनियम अथवा प्रावधान इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के साथ असंगत है अथवा उन अधिकारों का अपहरण करता है या उनका संक्षेपण करता है, और किसी न्यायालय अथवा अधिकरण के किसी प्रतिकूल निर्णय, डिक्री अथवा आदेश के होते हुए भी, उक्त प्रत्येक अधिनियम एवं विनियम, किसी सक्षम विधायिका की उसे निरसित अथवा संशोधित करने की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रवृत्त बना रहेगा।

एक नई अनुसूची, जिसे नवम अनुसूची कहा गया, संविधान में जोड़ी गई, जिसमें तेरह विभिन्न अधिनियमों एवं विनियमों का विनिर्देशन किया गया, जिनमें बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 प्रथम था। संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 की विधिक वैधता को हाल ही में इस न्यायालय द्वारा बनाए रखा गया है और सभी न्यायालयों को अब संविधान के वास्तविक भाग बन चुके इन दोनों नए अनुच्छेदों को प्रभावी करना होगा। अनुच्छेद 31-ए संविधान की तिथि से प्रत्यागामी प्रभाव रखता है और अनुच्छेद 31-बी नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट संबंधित अधिनियमों एवं विनियमों की तिथियों से प्रभावी होता है। यह विवादित नहीं किया गया है कि इन दोनों नवीनतः जोड़े गए अनुच्छेदों के प्रावधानों को इन अपीलों के निस्तारण में विचारार्थ लिया जाना आवश्यक है।

उत्तरदाताओं की ओर से उपस्थित विद्वान अधिवक्तागण इस स्थिति को स्वीकार करते हैं कि संवैधानिक संशोधनों के परिणामस्वरूप आक्षेपित अधिनियम को संविधान के भाग III के प्रावधानों, जिनमें अनुच्छेद 14 भी सम्मिलित है, के प्रवर्तन से बाहर कर दिया गया है और इसलिए उत्तरदाता अब अनुच्छेद 14 के अधीन विधियों के समान संरक्षण के उल्लंघन की शिकायत नहीं कर सकते, जो एकमात्र आधार था जिस पर उत्तरदाता उच्च न्यायालय में सफल हुए थे। तथापि, विद्वान अधिवक्तागण यह बनाए रखते हैं कि यद्यपि वे अब इस आधार पर अधिनियम की संवैधानिक वैधता को चुनौती नहीं दे सकते कि वह संविधान के भाग III

के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उल्लंघन करता है अथवा उनके साथ असंगत है अथवा उनका अपहरण अथवा संक्षेपण करता है, फिर भी उनके लिए यह खुला है कि वे संविधान के अन्य भागों अथवा विधि के सामान्य सिद्धांतों पर आधारित अन्य आधारों पर अधिनियम को प्रश्नगत करें। तदनुसार, श्री पी. आर. दास ने अधिनियम के विरुद्ध आक्षेप के निम्नलिखित पाँच मुख्य आधार प्रतिपादित किए हैं, अर्थात् :-

ए. अनुच्छेद 245 एवं 246 को सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर उनकी समुचित व्याख्या के अनुसार, बिहार विधायिका को उक्त अधिनियम अधिनियमित करने की शक्ति प्राप्त नहीं थी, क्योंकि वह प्रस्तावित जमींदारियों एवं भूधृतियों के अधिग्रहण के लिए न्यायोचित प्रतिकर के भुगतान का कोई प्रावधान नहीं करता।

बी. यदि न्यायालय सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 पर आधारित तर्कों की शुद्धता को स्वीकार नहीं करता और यह धारण करता है कि अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के कारण उत्तरदाता प्रतिकर के प्रश्न को उठाने से वर्जित हैं, तब भी उत्तरदाता इस आधार पर अधिनियम को चुनौती देने के अधिकारी हैं कि प्रस्तावित अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए नहीं है।

सी. यह अधिनियम संविधान के साथ छल का गठन करता है, अर्थात् यद्यपि यह प्रत्यक्षतः संविधान के अनुरूप प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः यह उसका उल्लंघन करता है।

डी. अधिनियम अप्रवर्तनीय है, क्योंकि धारा 32(2) प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान 40 समान किशतों में करती है, किन्तु किशतों के मध्य अंतराल की अवधि का विनिर्देशन नहीं करती।

ई. अधिनियम ने आवश्यक विधायी कृत्यों का प्रत्यायोजन कार्यपालिका सरकार को कर दिया है।

श्री पी. आर. दास द्वारा इस प्रकार प्रतिपादित आक्षेपों के आधार प्रत्यक्षतः प्रबल प्रतीत होते हैं और इसलिए उनके समर्थन में उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों का अत्यंत सावधानीपूर्वक विचार किया जाना आवश्यक है।

आधार ए के संबंध में : यह कि अनुच्छेद 31(2) निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण संबंधी विधि पर प्रतिकर का प्रावधान करने का दायित्व अधिरोपित करता है और इसलिए ऐसा दायित्व अनुच्छेद 31(2) का एक प्रावधान है, इस बात को चुनौती नहीं दी गई है। न ही, अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी को दृष्टिगत रखते हुए, यह दावा किया गया है कि

उत्तरदाताओं के लिए अब भी इस आधार पर आक्षेपित अधिनियम की वैधता को प्रश्नगत करना खुला है कि वह अनुच्छेद 31(2) में किए गए प्रतिकर संबंधी प्रावधान का उल्लंघन करता है अथवा उसके साथ असंगत है अथवा उसका अपहरण अथवा संक्षेपण करता है। जो तर्क प्रस्तुत किया गया है वह यह है कि प्रतिकर का प्रावधान करने का दायित्व केवल अनुच्छेद 31(2) में ही निहित प्रावधान नहीं है, बल्कि संविधान के अन्य भागों में भी उसका उपबंध किया गया है और जहाँ तक ऐसा दायित्व अन्यत्र उपबंधित पाया जाता है, वहाँ तक आक्षेपित अधिनियम को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह संविधान के उन अन्य भागों के प्रावधानों का उल्लंघन करता है अथवा उनके साथ असंगत है अथवा उनका अपहरण अथवा संक्षेपण करता है, क्योंकि चुनौती का वह आधार अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी द्वारा, उनमें प्रयुक्त परिसीमित शब्दों के कारण, समाप्त नहीं किया गया है। तर्क को निम्नलिखित प्रकार से विकसित किया गया है। राज्य की निजी संपत्ति का अधिग्रहण करने की शक्ति, अपने सार में, स्वामी को उसकी संपत्ति बेचने के लिए बाध्य करने की शक्ति है जब लोकहित इसकी अपेक्षा करता है। इस प्रतिपादन के समर्थन में प्राधिकार ब्लैकस्टोन की *कॉमेंट्री* (ब्रूम संस्करण) पृष्ठ 165 तथा कूली की *कॉन्स्टीट्यूशनल लिमिटेशन्स*, अष्टम संस्करण, खंड II, पृष्ठ 1201, पाद-टिप्पणी (3) में प्राप्त होता है। वास्तव में, भूमियों एवं उत्तराधिकारगत संपत्तियों के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित कुछ अंग्रेजी अधिनियमों में (उदाहरणार्थ 5 एवं 6 विक्टोरिया अध्याय 94 तथा 8 एवं 9 विक्टोरिया अध्याय 18) “क्रय” शब्द का प्रयोग अधिग्रहण को सूचित करने के लिए किया गया था। चूँकि मूल्य के बिना कोई विक्रय नहीं हो सकता, इसलिए न्यायोचित प्रतिकर, अर्थात् धन में उसके समतुल्य मूल्य, के भुगतान के प्रावधान के बिना निजी संपत्ति का कोई अनिवार्य अधिग्रहण नहीं हो सकता। यह कि निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए न्यायोचित प्रतिकर देने का दायित्व प्राकृतिक न्यायसंगति का एक सिद्धांत है जिसे सभी संयमित एवं सभ्य सरकारों द्वारा मान्यता प्राप्त है; यह कि प्रतिकर का अधिकार प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति के प्रयोग की एक अनुषंगी घटना है; तथा यह कि दोनों एक-दूसरे से इतने अविच्छेद्य रूप से जुड़े हुए हैं कि उन्हें पृथक एवं स्वतंत्र सिद्धांतों के रूप में नहीं, बल्कि एक ही सिद्धांत के अंगों के रूप में विद्यमान कहा जा सकता है—ये सब अमेरिकी न्यायालयों के अनेक निर्णयों द्वारा सुस्थापित हैं, जिनका उद्धरण हार्लन न्यायमूर्ति ने *शिकागो, बर्लिंगटन एवं क्विन्सी रेलरोड कंपनी बनाम शिकागो* में दिया है। इंग्लैंड में लॉर्ड ड्युनेडिन ने *महान्यायवादी बनाम डी कीसर रॉयल होटल लिमिटेड* में प्रतिकर देने के दायित्व को “अधिग्रहण का आवश्यक सहगामी” बताया था। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिकर देने का दायित्व अधिग्रहण की शक्ति से

अविच्छेद्य एवं उसमें अंतर्निहित है। श्री पी. आर. दास का कहना है कि वे अंतिम शब्द सूची ॥ की प्रविष्टि 42 में उपबंधित प्रतिकर प्रदान करने के दायित्व को सूची ॥ की प्रविष्टि 36 में अंतःस्थापित कर देते हैं और इस प्रकार अंतिम उल्लिखित प्रविष्टि की विषयवस्तु का विस्तार कर उसे ऊपर उल्लिखित संयुक्त अवधारणा को समाविष्ट करने वाला एक विधायी शीर्ष बना देते हैं। तृतीय वैकल्पिक स्थिति यह है कि यदि सूची ॥ की प्रविष्टि 36 में "अधिग्रहण" शब्द अपने आप में प्रतिकर प्रदान करने के दायित्व को निहित नहीं करता और यदि "सूची ॥ की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन" शब्द ऊपर कथित प्रकार से उस दायित्व को अंतःस्थापित नहीं करते, तब भी सूची ॥ की प्रविष्टि 42 का अर्थ ऐसी शक्ति प्रदान करने वाला माना जाना चाहिए जो एक कर्तव्य से संयुक्त हो, ताकि यदि सूची ॥ की प्रविष्टि 33 अथवा सूची ॥ की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधि-निर्माण शक्ति का प्रयोग किया जाए, तो सूची ॥ की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधि-निर्माण शक्ति का भी प्रयोग, *जूलियस बनाम लॉर्ड बिशप ऑफ ऑक्सफोर्ड* में लॉर्ड सभा द्वारा प्रतिपादित तथा *मुख्य नियंत्रक राजस्व प्राधिकारी बनाम महाराष्ट्र शुगर मिल्स लिमिटेड* में इस न्यायालय द्वारा अंगीकृत सिद्धांत के अनुसार, अनिवार्यतः किया जाना चाहिए। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि बिहार विधायिका ने सूची ॥ की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए विधि बनाने की अपनी शक्ति का प्रयोग करने का दावा तो किया, किन्तु ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जिसमें उन सिद्धांतों का निर्धारण किया गया हो जिन्हें विधि की दृष्टि में न्यायोचित प्रतिकर माना जा सके; अतः अधिनियम अधिकार-बाह्य एवं शून्य है। श्री पी. आर. दास द्वारा इस प्रकार विकसित तर्क निस्संदेह आकर्षक कौशल एवं प्रत्यक्ष प्रबलता का गुण रखते हैं और निश्चित रूप से अत्यंत सावधानीपूर्वक विचार की अपेक्षा करते हैं।

उपरोक्त तर्क की जड़ पर प्रहार करने के लिए अपीलकर्ता राज्य की ओर से उपस्थित विद्वान महान्यायवादी यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आक्षेपित अधिनियम सूची ॥ की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत नहीं, बल्कि सूची ॥ की प्रविष्टि 18 में उल्लिखित विषयों के संबंध में निर्मित विधि है। तर्क यह है कि यह मूलतः भूमि सुधार तथा भू-धृतियों में परिवर्तन संबंधी विधिनिर्माण है। यह इंगित किया गया है कि अधिनियम सभी जमींदारों तथा मध्यवर्ती भूधृतिधारकों के हितों का उन्मूलन कर देता है ताकि राज्य एवं भूमि के वास्तविक जोतने वाले के मध्य प्रत्यक्ष संबंध स्थापित किया जा सके। इस मुख्य उद्देश्य के सहगामी रूप में भूमि में विद्यमान विभिन्न हितों का अधिग्रहण किया गया है। इस प्रतिपादन के समर्थन में कि सूची की प्रत्येक प्रविष्टि, जो विधिनिर्माण के विषय-वस्तु की एक श्रेणी अथवा शीर्ष है, का

यथासंभव व्यापक अर्थ लगाया जाना चाहिए ताकि उसमें सभी सहायक विषय सम्मिलित हो सकें, *यूनाइटेड प्रोविंसेज बनाम मोसमात अतीका बेगम एवं अन्य, ठाकुर जगन्नाथ बखश सिंह बनाम यूनाइटेड प्रोविंसेज* तथा *मेघ राज एवं अन्य बनाम अल्लाह रखिया एवं अन्य* के मामलों का संदर्भ दिया गया है। इस तर्क-पद्धति को शियरर न्यायमूर्ति की स्वीकृति प्राप्त हुई, किन्तु रूबेन न्यायमूर्ति तथा एस. के. दास न्यायमूर्ति ने इसे अस्वीकार कर दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि सूची ॥ की प्रविष्टि 18 में "भूमि" शब्द का अत्यंत व्यापक अर्थ लगाया गया है, किन्तु यदि उस प्रविष्टि में "भूमि" अथवा "भू-धृतियों" को भूमि के अधिग्रहण को भी समाविष्ट करने वाला माना जाए, तो सूची ॥ की प्रविष्टि 36 को, जहाँ तक भूमि के अधिग्रहण का संबंध है, पूर्णतः निरर्थक मानना पड़ेगा, और मैं ऐसे निष्कर्ष से सहमत होने के लिए तैयार नहीं हूँ। मेरे मत में, सूची ॥ की प्रविष्टि 18 तथा प्रविष्टि 36 दोनों विधायी शीर्षों को अर्थ एवं विषयवस्तु प्रदान करने के लिए प्रथम को भूमि एवं भू-धृतियों तथा उनसे संबंधित सभी विषयों को समाविष्ट करने वाले विधायी वर्ग अथवा शीर्ष के रूप में पढ़ा जाना चाहिए, भूमि के अधिग्रहण को छोड़कर, जिसे सूची ॥ की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत आवृत्त माना जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, आक्षेपित अधिनियम सभी किराया-बकायों के अधिग्रहण का दावा करता है और किराया-बकायों के अधिग्रहण संबंधी विधि को किसी भी प्रकार सूची ॥ की प्रविष्टि 18 में विनिर्दिष्ट विषयों से संबंधित विधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि वह उस प्रविष्टि के अर्थ में किराये की वसूली से संबंधित विधि है। इस बिंदु पर मैं अपने को रूबेन न्यायमूर्ति तथा एस. के. दास न्यायमूर्ति से सहमत पाता हूँ और इसके विपरीत विद्वान महान्यायवादी के तर्कों को स्वीकार नहीं कर सकता। अतः सूची ॥ की प्रविष्टि 36 तथा सूची ॥ की प्रविष्टि 42 पर आधारित श्री पी. आर. दास के तर्कों को प्रारंभिक स्तर पर ही अस्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि उनका विचार किया जाना आवश्यक है और मैं तत्काल ऐसा करता हूँ।

यह कि प्रतिकर देने का दायित्व राज्य द्वारा निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति का सहगामी है, अर्थात् उसके साथ जुड़ा हुआ है, विवादित नहीं किया जा सकता। प्रथम महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या यह दायित्व सूची ॥ की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त "अधिग्रहण" शब्द में अंतर्निहित है, अथवा अन्य शब्दों में, क्या यह दायित्व उस शब्द के प्रयोग मात्र से उसके आशय अथवा विषयवस्तु के अंग के रूप में अनुमानित किया जाना चाहिए। *महान्यायवादी बनाम डी कीसर रॉयल होटल लिमिटेड* (उपर्युक्त) में लॉर्ड इयुनेडिन ने इंगित किया कि अधिग्रहण की शक्ति मूलतः राजमुकुट के विशेषाधिकार से उत्पन्न हुई थी और

प्रतिकर का भुगतान प्रारंभ में राजमुकुट एवं प्रजा के मध्य वार्ता एवं समझौते का विषय था, किन्तु बाद में वह स्थानीय प्रयोजन वाले अधिनियमों द्वारा और अंततः सामान्य प्रयोजन वाले अधिनियमों द्वारा निर्धारित किया जाने लगा, और इसलिए राजमुकुट, जो प्रत्येक अधिनियम का अनुमोदक पक्षकार होता है, वस्तुतः इस रूप में माना जाना चाहिए कि उसने अपने विशेषाधिकार के प्रयोग को प्रतिकर के भुगतान, जो अधिनियमों द्वारा विनियमित है, के अधीन किए जाने के लिए सहमति प्रदान कर दी है। तथापि, उस मामले में तर्कों के दौरान यह विवादित नहीं किया गया था कि अधिग्रहण स्वयं विशेषाधिकारगत अधिकार का विषय था। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति मूलतः संघीय संविधान के किसी प्रावधान द्वारा स्पष्ट रूप से संयुक्त राज्य को प्रदान नहीं की गई थी, किन्तु इस शक्ति को सदैव राज्य की प्रभुसत्ता के एक अंतर्निहित गुण के रूप में मान्यता प्राप्त रही है। जहाँ तक संयुक्त राज्य का संबंध है, पाँचवें संशोधन ने यह उपबंध करके कि निजी संपत्ति को न्यायोचित प्रतिकर के बिना लोक उपयोग के लिए नहीं लिया जाएगा, प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण अधिकार को संवैधानिक मान्यता प्रदान की तथा प्रजा के संरक्षणार्थ राज्य द्वारा उस अधिकार के प्रयोग पर एक सीमा अधिरोपित की। इससे यह संकेत मिलता है कि अधिग्रहण की शक्ति तथा प्रतिकर देने का दायित्व दो पृथक एवं भिन्न अवधारणाएँ हैं, यद्यपि दूसरी पहली का अनुसरण करती है। यदि प्रतिकर देने का दायित्व "अधिग्रहण" की अवधारणा अथवा उसके अर्थ का अभिन्न अंग होता, तो पाँचवें संशोधन का यह भाग पूर्णतः अनावश्यक होता। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "अधिग्रहण" अभिव्यक्ति अपने आप में तथा बिना किसी अन्य बात के, प्रतिकर देने के किसी दायित्व को अंतःस्थापित नहीं करती। श्री पी. आर. दास का तर्क है कि सूची III की प्रविष्टि 42 वास्तव में सूची II की प्रविष्टि 36 में अंतर्निहित दायित्व को कार्यान्वित करती है और दोनों प्रविष्टियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। यदि यह दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में अंतर्निहित नहीं है, तो फिर प्रतिकर देने का दायित्व कहाँ पाया जाएगा—ऐसा प्रश्न किया गया है। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि वह दायित्व हमारे संविधान के भाग III में अनुच्छेद 31(2) में पाया जाता है। प्रतिकर देने के दायित्व को स्वयं विधायी शक्ति के एक भाग के रूप में अंतःस्थापित किया जा सकता है, जिस स्थिति में वह एक संयुक्त शक्ति बन जाती है, अर्थात् अधिग्रहण के संबंध में विधि बनाने की ऐसी शक्ति जो प्रतिकर प्रदान करने के दायित्व द्वारा परिसीमित हो। इस प्रकार ऑस्ट्रेलिया राष्ट्रमंडल संविधान अधिनियम की धारा 31(XXXI) में न्यायोचित शर्तों पर संपत्ति का अधिग्रहण राष्ट्रमंडल संसद की विधायी शक्ति का एक शीर्ष अथवा वर्ग बना दिया गया है। वहाँ शक्ति केवल संपत्ति के अधिग्रहण संबंधी विधि बनाने की नहीं है, बल्कि न्यायोचित शर्तों पर संपत्ति

के अधिग्रहण संबंधी विधि बनाने की है, जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि विधायी शक्ति स्वयं न्यायोचित शर्तों के प्रावधान की आवश्यकता द्वारा परिसीमित है। किन्तु संवैधानिक विधि की ऐसी कोई सर्वोपरि आवश्यकता, जिसके विषय में मुझे ज्ञान हो अथवा जो हमारे संज्ञान में लाई गई हो, नहीं है, जो यह अपेक्षा करे कि संपत्ति के अधिग्रहण के लिए प्रतिकर देने का दायित्व निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के संबंध में विधि बनाने की विधायी शक्ति का ही अभिन्न अंग बना दिया जाए। यह उस विशेष संविधान के प्रावधानों पर निर्भर करेगा जो विचाराधीन है। हमारे संविधान में हमें क्या प्राप्त होता है? हमें यह प्राप्त होता है कि अनुच्छेद 246 के अधीन संसद को, अन्य बातों के साथ-साथ, सूची I की प्रविष्टि 33 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में विधि बनाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त है, अर्थात् “संघ के प्रयोजनों के लिए संपत्ति का अधिग्रहण अथवा अभिग्रहण”; कि राज्य विधायिकाओं को, अन्य बातों के साथ-साथ, सूची II की प्रविष्टि 36 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में विधि बनाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त है, अर्थात् “संघ के प्रयोजनों को छोड़कर संपत्ति का अधिग्रहण अथवा अभिग्रहण, सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन”; तथा यह कि संसद और राज्य विधायिकाएँ दोनों सूची III की प्रविष्टि 42 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में विधि बना सकती हैं, अर्थात् प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांत तथा ऐसे प्रतिकर को दिए जाने के रूप एवं रीति के संबंध में। संसद अथवा राज्य विधायिकाओं की यह विधायी शक्ति, अनुच्छेद 245 द्वारा, “इस संविधान के प्रावधानों के अधीन” बनाई गई है। संविधान के प्रावधानों में से एक अनुच्छेद 31(2) है, जिसके अधीन किसी भी संपत्ति का “लोक प्रयोजनों के लिए किसी ऐसी विधि के अधीन, जो ऐसे अधिग्रहण अथवा ऐसे अधिकार ग्रहण को प्राधिकृत करती हो, अधिकार ग्रहण अथवा अधिग्रहण नहीं किया जा सकता जब तक कि वह विधि उस संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान न करे और या तो प्रतिकर की राशि निर्धारित न करे अथवा उन सिद्धांतों तथा उस रीति का विनिर्देशन न करे जिनके आधार पर तथा जिस प्रकार प्रतिकर का निर्धारण एवं भुगतान किया जाना है।” हमारे संविधान की योजना स्पष्टतः तीन बातों का पृथक-पृथक उपबंध करना है, अर्थात्—संपत्ति के अधिग्रहण संबंधी विधि बनाने की शक्ति, अनुच्छेद 246 को सूची I की प्रविष्टि 33 तथा सूची II की प्रविष्टि 36 के साथ पढ़े जाने पर; ऐसी विधि का प्रतिकर का प्रावधान करने का दायित्व, अनुच्छेद 31(2) में; तथा ऐसे प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों को विनिर्दिष्ट करने वाली विधि बनाने की शक्ति, अनुच्छेद 246 को सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर। इस योजना के अनुसार सूची I की प्रविष्टि 33 तथा सूची II की प्रविष्टि 36, जो मात्र विधायी शक्ति के शीर्ष हैं, को अपने भीतर प्रतिकर के भुगतान का कोई दायित्व समाहित मानना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। अन्य शब्दों में, प्रतिकर देने के

दायित्व को इन विधायी शीर्षों में अंतर्निहित अथवा उनका अभिन्न अंग मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका पृथक एवं स्पष्ट उपबंध अनुच्छेद 31(2) में किया गया है। सुप्रसिद्ध सूत्र *जहाँ किसी बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया हो, वहाँ निहित अथवा अनुमानित बात का स्थान नहीं रहता।* वास्तव में तर्क एवं सामान्य बुद्धि का सिद्धांत है, मात्र व्याख्या का तकनीकी नियम नहीं (देखें ब्रूमस लीगल मैक्सिमस, दशम संस्करण, पृष्ठ 443 पर पृष्ठ 452)। अतः अनुच्छेद 31(2) में यह स्पष्ट उपबंध कि अधिग्रहण संबंधी विधि को वैध होने के लिए प्रतिकर का प्रावधान करना होगा, आवश्यकतः उस सभी संकेतों को निष्कासित कर देगा जिनके द्वारा सूची II की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त "अधिग्रहण" शब्द के अर्थ में प्रतिकर प्रदान करने का कोई निहित दायित्व अंतःस्थापित करने का प्रयास किया जाता है। अनुच्छेद 31(2) के स्पष्ट प्रावधान के समक्ष विधायी शीर्षों में ऐसी किसी निहितार्थ व्याख्या के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहता।

श्री पी. आर. दास वैकल्पिक रूप से यह सुझाव देते हैं कि यदि प्रतिकर प्रदान करने का दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त "अधिग्रहण" शब्द में स्वयं अंतर्निहित नहीं है, तो वह दायित्व "सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन" शब्दों के कारण उस प्रविष्टि द्वारा आकर्षित होकर उसका अभिन्न अंग बन जाता है। तथापि, अंतिम उल्लिखित शब्द सूची I की प्रविष्टि 33 में नहीं पाए जाते और श्री पी. आर. दास के इस तर्क का यह विचित्र परिणाम होगा कि जहाँ एक ओर प्रतिकर प्रदान करने का दायित्व ऊपर उद्धृत उसके अंतिम कुछ शब्दों के कारण सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधायी शक्ति का भाग बन जाता है, वहीं दूसरी ओर सूची I की प्रविष्टि 33 के अंतर्गत ऐसी कोई बाध्यता आकर्षित होकर विधायी शक्ति का भाग नहीं बनती, और परिणामतः संपत्ति के अधिग्रहण के संबंध में सूची I की प्रविष्टि 33 के अंतर्गत विधि बनाते समय संसद, राज्य विधायिकाओं के विपरीत, किसी भी प्रतिकर का प्रावधान करने के लिए बाध्य नहीं होगी। यह हमारे संविधान-निर्माताओं का आशय कदापि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, श्री पी. आर. दास "के अधीन" शब्दों का अर्थ "इस शर्त पर निर्भर" पढ़ते हैं कि सूची III की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत विधायी शक्ति का प्रयोग किया जाए, अर्थात् प्रतिकर प्रदान करने के दायित्व तथा ऐसे प्रतिकर को दिए जाने के रूप एवं रीति को पूर्ण करने की शर्त पर। मैं एस. के. दास न्यायमूर्ति से सहमत हूँ कि "के अधीन" शब्दों का वह अर्थ नहीं है जिसे श्री पी. आर. दास उन्हें देना चाहते हैं, बल्कि उनका अर्थ "किन्तु नहीं" है, जिससे यह सूचित होता है कि सूची II की प्रविष्टि 36 का क्षेत्र सीमित है, अर्थात् सूची III की प्रविष्टि 42 का विषय-वस्तु सूची II की प्रविष्टि 36 की विषयवस्तु के

भीतर सम्मिलित नहीं है। यदि सूची III की प्रविष्टि 42 को, सूची II की प्रविष्टि 36 में प्रयुक्त "सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों के अधीन" शब्दों के कारण, सूची II की प्रविष्टि 36 की विषयवस्तु का भाग मानकर पढ़ा जाए, तब यह तर्क भली-भाँति प्रस्तुत किया जा सकता है कि अनुच्छेद 246 को दृष्टिगत रखते हुए संसद प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों के संबंध में विधि बनाने के लिए सक्षम नहीं होगी। इसी तर्क को रोकने के लिए तथा अत्यधिक सावधानीवश सूची III की प्रविष्टि 42 के विषय-वस्तु को "के अधीन" आदि शब्दों द्वारा सूची II की प्रविष्टि 36 की विषयवस्तु से अपवर्जित किया गया है और परिणामतः संसद सूची II की प्रविष्टि 36 से इस प्रकार अपवर्जित विषयों तथा सूची III की प्रविष्टि 42 में पृथक एवं स्वतंत्र मद के रूप में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में स्वतंत्रतापूर्वक विधि बना सकती है। यह विचार सूची I की प्रविष्टि 33 के संबंध में महत्वपूर्ण नहीं था, जिससे उस प्रविष्टि से "के अधीन" आदि शब्दों के लोप का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है।

अंततः श्री पी. आर. दास यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि प्रतिकर का प्रावधान करने का दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में "अधिग्रहण" शब्द में अंतर्निहित नहीं है और यदि उस प्रविष्टि के अंत में प्रयुक्त "के अधीन" शब्दों के होते हुए भी उस दायित्व को उस प्रविष्टि में नहीं पढ़ा जाना है, तब भी यदि राज्य सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत संपत्ति के अधिग्रहण संबंधी विधि बनाने की अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, तो राज्य विधायिका का यह कर्तव्य है कि वह सूची III की प्रविष्टि 42 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में भी विधि बनाए, इस सिद्धांत पर कि चूँकि सूची III की प्रविष्टि 42 विधायिका को उन व्यक्तियों के हितों के संरक्षणार्थ शक्ति प्रदान करती है जिनकी संपत्ति का अनिवार्य अधिग्रहण किया जाता है, इसलिए ऐसी शक्ति को उसके प्रयोग के कर्तव्य से संयुक्त माना जाना चाहिए। हमारे संज्ञान में ऐसा कोई प्राधिकार नहीं लाया गया है जो यह स्थापित करता हो अथवा संकेत भी करता हो कि *जूलियस बनाम लॉर्ड बिशप ऑफ ऑक्सफोर्ड* (उपर्युक्त) में लॉर्ड सभा द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को विधायी शक्ति के प्रयोग तक विस्तारित किया गया है और मैं इस प्रतिपादन से सहमत होने के लिए तैयार नहीं हूँ। अनुच्छेद 246 संसद अथवा राज्य विधायिकाओं के लिए सप्तम अनुसूची की किसी भी सूची की किसी भी प्रविष्टि के अंतर्गत विधि बनाना अनिवार्य नहीं करता। अतः सूची III की प्रविष्टि 42 संसद अथवा राज्य विधायिकाओं पर प्रतिकर के भुगतान के लिए कोई विधि बनाने का कोई कर्तव्य अधिरोपित नहीं करती। संसद अथवा राज्य विधायिकाओं को, निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए विधि बनाते समय, प्रतिकर का प्रावधान करने तथा या तो उसकी राशि निश्चित करने

अथवा उन सिद्धांतों तथा उस रीति का विनिर्देशन करने के लिए, जिनके आधार पर तथा जिस प्रकार प्रतिकर का निर्धारण एवं भुगतान किया जाना है, जो बात बाध्य करती है, वह अनुच्छेद 31(2) का प्रावधान है। सूची III की प्रविष्टि 42 केवल एक विधायी शीर्ष का गठन करती है जिसके अंतर्गत संसद अथवा राज्य विधायिकाएँ ऐसी विधि बना सकती हैं जिससे अनुच्छेद 31(2) द्वारा उन पर स्पष्ट रूप से अधिरोपित दायित्व को प्रभावी किया जा सके। उस अनुच्छेद के स्पष्ट प्रावधान को दृष्टिगत रखते हुए, सूची III की प्रविष्टि 42 को लॉर्ड सभा के मामले में उल्लिखित सिद्धांत के आधार पर विधायिका पर कोई निहित कर्तव्य अधिरोपित करने वाला मानकर पढ़ना पूर्णतः अनावश्यक है।

यह कि प्रतिकर का प्रावधान करने का दायित्व, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर भी, सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत विधायी शक्ति की विषयवस्तु में सम्मिलित नहीं है, तब और अधिक स्पष्ट हो जाएगा जब हम अनुच्छेद 31 के खंड (4) एवं (5) तथा अनुच्छेद 31-ए का निकटता से विचार करेंगे। अनुच्छेद 31(4) उसमें वर्णित प्रकार की विधि को अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुच्छेद 31(4) जिस विधि को संरक्षण प्रदान करना चाहता है, वह संपत्ति के अधिग्रहण अथवा उसके अधिकार ग्रहण संबंधी ऐसी विधि है जो, अन्य बातों के साथ-साथ, प्रतिकर का प्रावधान नहीं करती अथवा प्रतिकर की राशि निश्चित नहीं करती अथवा उन सिद्धांतों तथा उस रीति का विनिर्देशन नहीं करती जिनके आधार पर तथा जिस प्रकार प्रतिकर का निर्धारण एवं भुगतान किया जाना है, क्योंकि अन्यथा किसी संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं होती। तत्काल यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सूची II में ऐसी कोई विधायी प्रविष्टि है जिसके अंतर्गत कोई राज्य विधायिका प्रतिकर के बिना संपत्ति के अधिग्रहण अथवा उसके अधिकार ग्रहण संबंधी विधि बना सकती है। श्री पी. आर. दास के तर्क की वैधता की परीक्षा करने तथा अनुच्छेद 248 एवं सूची I की प्रविष्टि 97 के अधीन संसद की अवशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न जटिलता से बचने के लिए मैंने राज्य की विधायिकाओं द्वारा निर्मित ऐसी अधिग्रहण संबंधी विधि का उदाहरण लिया है जो अनुच्छेद 31(4) के अंतर्गत भी आती है। तब क्या सूची II में ऐसी कोई प्रविष्टि है जिसके अंतर्गत कोई राज्य विधायिका प्रतिकर अथवा लोक प्रयोजन के बिना अधिग्रहण संबंधी विधि बना सके? स्पष्टतः ऐसी कोई प्रविष्टि नहीं है, सूची II की प्रविष्टि 36 को छोड़कर। यदि उस प्रविष्टि में अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर श्री पी. आर. दास द्वारा सुझाए गए प्रकार का कोई निहितार्थ है, अर्थात् यह कि सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत प्रतिकर के

प्रावधान के बिना निर्मित संपत्ति-अधिग्रहण संबंधी विधि राज्य विधायिकाओं की विधायी क्षमता से परे होगी, तब ऐसी कोई अन्य प्रविष्टि नहीं है जिसके अंतर्गत राज्य विधायिका द्वारा ऐसी विधि बनाई जा सके और परिणामतः अनुच्छेद 31(4) में अनुच्छेद 31(2) के विरुद्ध ऐसी विधि को संरक्षण प्रदान करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, क्योंकि इस परिकल्पना के अनुसार ऐसी विधि बनाई ही नहीं जा सकती। अनुच्छेद 31(4) ऐसी विधि की परिकल्पना करता है जो अनुच्छेद 31(2) का उल्लंघन करती हो और जहाँ तक राज्य विधायिकाओं का संबंध है, सूची II में प्रविष्टि 36 के अतिरिक्त कोई ऐसी प्रविष्टि नहीं है जिसके अंतर्गत ऐसी उल्लंघनकारी विधि राज्य विधायिकाओं द्वारा बनाई जा सके। यह परिस्थिति निर्विवाद रूप से स्थापित करती है कि सूची II की प्रविष्टि 36 में, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर, ऐसा कोई निहितार्थ नहीं है जैसा उसमें आरोपित किया जा रहा है। इसी प्रकार अनुच्छेद 31(5)(ख)(ii) को लें, जो ऐसी किसी विधि के प्रावधानों को संरक्षण प्रदान करता है जिसे राज्य भविष्य में लोक स्वास्थ्य के संवर्धन अथवा जीवन या संपत्ति के लिए संकट की रोकथाम हेतु बनाए। जिस विधि को इस प्रकार संरक्षण प्रदान किया जाना है, उसमें भी प्रतिकर के किसी प्रावधान के बिना संपत्ति का अधिग्रहण सम्मिलित होना चाहिए, क्योंकि अन्यथा अनुच्छेद 31(2) के विरुद्ध किसी संरक्षण का कोई अवसर अथवा आवश्यकता ही नहीं होगी। इस प्रकार की विधि, जहाँ तक वह संपत्ति के अधिग्रहण का प्रावधान करती है, अनिवार्यतः, यदि बनाई जाए, तो राज्य विधायिका द्वारा सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत ही बनाई जानी चाहिए। यदि श्री पी. आर. दास के तर्क सही हों, तो लोक स्वास्थ्य के संवर्धन अथवा जीवन या संपत्ति के लिए संकट की रोकथाम संबंधी ऐसी विधि, जिसमें प्रतिकर के प्रावधान के बिना संपत्ति का अधिग्रहण सम्मिलित हो—और यही वह बात है जिसे अनुच्छेद 31(2) से संरक्षण प्रदान किया जाना अपेक्षित है—कभी बनाई ही नहीं जा सकती, क्योंकि उनके अनुसार प्रतिकर प्रदान करने का दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर, अंतर्निहित है और ऐसी कोई अन्य प्रविष्टि नहीं है जिसके अंतर्गत राज्य विधायिका संपत्ति के अधिग्रहण के संबंध में विधि बना सके। इस विसंगति से बचने का यह सुझाव देकर प्रयास करना कि अनुच्छेद 31 के खंड (4) तथा (5)(ख)(ii) संविधान में *अत्यधिक सावधानी के तौर पर* अर्थात् अत्यधिक सावधानीवश अंतःस्थापित किए गए हैं, निरर्थक है, क्योंकि यदि श्री पी. आर. दास का प्रतिपादन सही हो, तो ऐसी विधि को संरक्षण प्रदान करने के लिए किसी भी मात्रा की सावधानी आवश्यक नहीं थी, जो *परिकल्पना* के अनुसार बनाई ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार के तर्क अनुच्छेद 31-ए पर भी आधारित किए जा सकते हैं, क्योंकि वह अनुच्छेद भी संविधान के भाग III में स्थित

अनुच्छेद 31(2) से किसी विधि को संरक्षण प्रदान करता है। यह सुझाव दिया गया है कि अनुच्छेद 31-ए ऐसी वैध विधि की परिकल्पना करता है जो किसी सक्षम विधायिका द्वारा उसकी विधायी शक्तियों की परिधि के भीतर बनाई गई हो। यदि कोई राज्य विधायिका सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अधिग्रहण संबंधी विधि बनाते समय प्रतिकर का प्रावधान करने के लिए बाध्य हो, तब उस प्रविष्टि की इस कथित आवश्यकता के अनुरूप राज्य विधायिका द्वारा बनाई गई विधि को अनुच्छेद 31(2) के विरुद्ध किसी संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं होगी, और अनुच्छेद 31-ए को निरर्थक एवं अनावश्यक मानना पड़ेगा। निश्चय ही यह निष्कर्ष प्रत्यक्षतः अस्थिर है। मेरे मत में अनुच्छेद 31 के खंड (4) तथा (5)(ख)(ii) और अनुच्छेद 31-ए स्पष्ट रूप से श्री पी. आर. दास के प्रतिपादन का निषेध करते हैं। मेरे निर्णय में, ऊपर उल्लिखित कारणों से, प्रथम आधार के अंतर्गत श्री पी. आर. दास द्वारा प्रस्तुत तर्कों का मुख्य आधार, अर्थात् यह कि प्रतिकर देने का दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर अंतर्निहित है, असंगत है। चूँकि, जैसा कि मैं धारण करता हूँ, प्रतिकर का प्रावधान करने का दायित्व अनुच्छेद 31(2) का एक प्रावधान है और सूची II की प्रविष्टि 36 में, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ संयुक्त रूप से पढ़े जाने पर भी, स्वयं विधायी शक्ति में अंतर्निहित अथवा उसका अभिन्न अंग नहीं है, इसलिए आक्षेपित अधिनियम को अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के प्रभाव से इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता कि वह अनुच्छेद 31 के खंड (2) के प्रावधानों द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार का उल्लंघन करता है अथवा उसके साथ असंगत है अथवा उसका अपहरण अथवा संक्षेपण करता है, अर्थात् इस आधार पर कि वह प्रतिकर का प्रावधान नहीं करता।

यह मान भी लिया जाए कि प्रतिकर देने का दायित्व, जिसका स्पष्ट उपबंध अनुच्छेद 31(2) में किया गया है, सूची II की प्रविष्टि 36 में अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर भी अंतर्निहित है, तब भी उत्तरदाताओं को आक्षेपित अधिनियम की वैधता को इस आधार पर प्रश्नगत करने की अनुमति नहीं दी जा सकती कि वह प्रतिकर का प्रावधान नहीं करता, क्योंकि तब वे वही कार्य करेंगे जिसे करने से उन्हें अनुच्छेद 31(4) तथा नवीनतः जोड़े गए अनुच्छेदों द्वारा निषिद्ध किया गया है। अनुच्छेद 31(4) तथा जोड़े गए अनुच्छेद उत्तरदाताओं को, अन्य बातों के साथ-साथ, इस आधार पर अधिनियम की वैधता को प्रश्नगत करने से वर्जित करते हैं कि वह अनुच्छेद 31 के खंड (2) के प्रावधानों द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार का उल्लंघन करता है अथवा उसके साथ असंगत है अथवा उसका अपहरण

अथवा संक्षेपण करता है। उन अनुच्छेदों में बल अनुच्छेद की संख्या अथवा संविधान के भाग पर नहीं, बल्कि "प्रावधानों" पर अधिक है। यह स्पष्ट है कि विषय का वास्तविक सार यह है कि अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी स्पष्ट रूप से इस आधार पर, अन्य बातों के साथ-साथ, अधिनियम की वैधता को चुनौती दिए जाने से रोकना चाहते हैं कि वह प्रतिकर का प्रावधान नहीं करता। प्रतिकर प्रदान करने का यह दायित्व निःसंदेह अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों में से एक है, किन्तु यदि, जैसा कि श्री पी. आर. दास का तर्क है, वही प्रावधान इसी संविधान में अन्यत्र भी पाया जाता है, उदाहरणार्थ सूची II की प्रविष्टि 36 अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 में, तब उस "प्रावधान" को भी अनुच्छेद 31(4) तथा दोनों नवीनतः जोड़े गए अनुच्छेदों द्वारा आवृत माना जाना चाहिए, क्योंकि अन्यथा वे अनुच्छेद निष्प्रभावी हो जाएँगे। मेरे मत में, यदि दो व्याख्याएँ संभव हों, तो न्यायालय को उस व्याख्या को अपनाना चाहिए जो संविधान-निर्माताओं के प्रत्यक्ष आशय को प्रभावी करे और उस व्याख्या को त्याग देना चाहिए जो उसे निष्फल बना दे। इसके अतिरिक्त, यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अनुच्छेद 31(4), जो "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" लागू होता है, उन्हीं शब्दों के बल पर, अधिनियम को विधायी अक्षमता के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करेगा, यदि कोई ऐसी अक्षमता सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 के कथित निहित प्रावधानों, यदि कोई हों, के अनुपालन न किए जाने से उत्पन्न होती हो। मेरे निर्णय में, अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के कारण उत्तरदाता इस आधार पर अधिनियम को प्रश्नगत करने के अधिकारी नहीं हैं कि वह प्रतिकर का प्रावधान नहीं करता, चाहे उस आधार को अनुच्छेद 31(2) के उल्लंघन के रूप में प्रतिपादित किया जाए अथवा ऊपर उल्लिखित विधायी शीर्षों के कथित निहित प्रावधानों, यदि कोई हों, के उल्लंघन के रूप में।

यह ध्यान देने योग्य है कि अधिनियम के असंवैधानिक होने का तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि उसने सूची III की प्रविष्टि 42 द्वारा अपेक्षित प्रतिकर के निर्धारण के लिए कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किया है और प्रतिकर का प्रावधान पूर्णतः मायावी है। अधिनियम का अध्याय V प्रतिकर के निर्धारण से संबंधित है। संक्षेप में, योजना यह है कि सकल परिसंपत्तियों से प्रारंभ किया जाए, जिन्हें सकल आय का पर्याय माना गया है, और फिर उनमें से कुछ कटौतियाँ करके शुद्ध परिसंपत्तियों तक पहुँचा जाए। तत्पश्चात् प्रतिकर की गणना 20 गुना से 3 गुना तक की परिवर्ती दरों के आधार पर शुद्ध आय के अनुसार की जानी है। इस प्रकार निर्धारित राशि में किराया आदि के संचित बकायों का आधा भाग तथा धारा 25 के अधीन निर्धारित खानों एवं खनिजों का प्रतिकर जोड़ा जाना है। प्रथमदृष्ट्या, यह

विवादित नहीं किया जा सकता कि अधिनियम स्वामी अथवा भूधृतिधारक को देय प्रतिकर के निर्धारण के लिए कुछ सिद्धांत विनिर्दिष्ट करता है। तथापि, यह इंगित किया गया है कि सकल परिसंपत्तियों का 5 से 20 प्रतिशत तक प्रबंधन-व्यय के रूप में कटौती करना पूर्णतः मनमाना है। यह कहा गया है कि यद्यपि यह सर्वविदित है कि किसी छोटे संपदा की आय के संबंध में प्रबंधन-व्यय का प्रतिशत किसी बड़े संपदा की अपेक्षा अधिक होता है, तथापि अधिनियम बड़े संपदाओं के स्वामियों के मामले में सकल परिसंपत्तियों का 20 प्रतिशत कटौती करने का प्रावधान करता है, जबकि छोटे संपदाओं के मामले में केवल 5 प्रतिशत। इसके पश्चात् रैयतों के लाभार्थ कार्यों के शीर्ष के अंतर्गत किसी राशि की कटौती तथा ऐसी कटौती की दर पर भी आपत्ति की गई है। मेरे मत में, निकट परीक्षण करने पर ये तर्क इस कथन के समतुल्य नहीं हैं कि अधिनियम प्रतिकर के निर्धारण के लिए कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं करता। जैसा कि मैं इन तर्कों को समझता हूँ, उनका वास्तविक अंतर्निहित आशय यह है कि ये सिद्धांत पर्याप्त रूप से उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि वे न्यायसंगत प्रतिकर उत्पन्न नहीं करते। मैं नहीं समझता कि न्यायालय विधिनिर्माण की नीति में प्रवेश कर सकता है। न्यायालय का संबंध केवल इस बात को देखने से है कि क्या सूची III की प्रविष्टि 42 में उल्लिखित प्रकार का कोई सिद्धांत निर्धारित किया गया है। यह सत्य है कि किसी बड़े संपदा की आय के आधार पर गणना की गई प्रबंधन-व्यय की प्रतिशत दर किसी छोटे संपदा की अपेक्षा कम होती है, किन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अधिनियम ने इस शीर्ष तथा लाभकारी कार्यों के शीर्ष के अंतर्गत कटौती की दर उस भार को वहन करने की स्वामी अथवा भूधृतिधारक की क्षमता के अनुसार निर्धारित की है। यह कहना असंभव है कि रैयतों के लाभार्थ कार्यों के लिए कटौती का प्रावधान किसी सिद्धांत द्वारा समर्थित नहीं है। किसी भू-स्वामी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने रैयतों के लाभार्थ कार्यों पर धन व्यय करे, उदाहरणार्थ तालाब एवं कुओं की व्यवस्था, सिंचाई, धर्मार्थ औषधालय, विद्यालय आदि, और कुछ भू-स्वामियों के श्रेय के लिए यह कहा जाना चाहिए कि व्यवहार में वे वास्तव में इस प्रयोजन पर धन व्यय करते हैं। अतः, किसी भू-स्वामी की शुद्ध आय की गणना करते समय उस राशि में से कुछ कटौती करने में, जिसे भू-स्वामियों को इस शीर्ष के अंतर्गत व्यय करना चाहिए और जिनमें से कुछ व्यवहार में प्रायः ऐसा करते भी हैं, कोई त्रुटि नहीं है। मुझे इस प्रावधान में सिद्धांत का कोई अभाव दिखाई नहीं देता। कटौती की दर, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, स्वामियों अथवा भूधृतिधारकों की वहन-क्षमता के अनुसार निर्धारित की गई है। यह प्रदर्शित किया गया है, और इसका खंडन नहीं किया गया है, कि अनेक मामलों में अधिनियम में निर्धारित सिद्धांतों के आधार पर शुद्ध आय की गणना करने से सकल आय

अत्यंत अल्प शुद्ध आय में परिणत हो जाती है। केवल एक उदाहरण लें—दरभंगा संपदा की सकल वार्षिक आय लगभग 47,85,069 रुपये है; अधिनियम द्वारा अनुमत कटौती लगभग 44,88,585 रुपये है; तथा अधिनियम में निर्धारित सिद्धांतों के अनुसार गणना की गई शुद्ध आय लगभग 2,96,484 रुपये अथवा लगभग 3 लाख रुपये आती है और दरभंगा के महाराजाधिराज को देय प्रतिकर केवल 9 लाख रुपये होगा। यह भी प्रदर्शित किया गया है कि कम-से-कम एक मामले में, उदाहरणार्थ पूर्णिया के राजा के मामले में, अधिनियम में निर्धारित सिद्धांत के अनुसार गणना किया गया प्रतिकर घाटे की राशि में परिणत होता है। यह तथ्य कि किसी एक पृथक मामले में गणना इस प्रकार परिणामित हो सकती है, तथापि यह सिद्ध नहीं करता कि कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किया गया है। वास्तव में, अन्य सभी मामलों में अधिनियम में निर्धारित सिद्धांत वास्तव में प्रतिकर उत्पन्न करता है, चाहे कुछ मामलों में उसे कितना भी अपर्याप्त कहा जाए। यदि कोई सिद्धांत निर्धारित किया गया है, तब सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधान पूर्णतः संतुष्ट हो जाते हैं और विधायी अक्षमता का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि अधिनियम में कोई सिद्धांत निर्धारित किया गया है, किन्तु वह सिद्धांत किसी विरल मामले में वास्तव में कोई प्रतिकर उत्पन्न नहीं करता अथवा कुछ मामलों में पर्याप्त प्रतिकर उत्पन्न नहीं करता, तब वास्तविक शिकायत यह होनी चाहिए, न कि यह कि कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किया गया, बल्कि यह कि निर्धारित सिद्धांत वह उत्पन्न नहीं करता जिसे न्यायोचित प्रतिकर कहा जा सकता है। ऐसा परिणाम अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों का उल्लंघन कर सकता है, किन्तु निश्चित रूप से सूची III की प्रविष्टि 42 का नहीं; और अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी को दृष्टिगत रखते हुए, अधिनियम को अनुच्छेद 31(2) के अनुपालन न करने के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती। दूसरी ओर, यदि यह धारण भी किया जाए कि, जैसा कि तर्क प्रस्तुत किया गया है, अधिनियम ने वास्तव में कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किया है, तब वह तथ्य न केवल सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों का उल्लंघन होगा, बल्कि अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों का भी उल्लंघन होगा, जो स्पष्ट एवं बलपूर्वक यह अपेक्षा करता है कि विधि या तो प्रतिकर निश्चित करे अथवा उन सिद्धांतों तथा उस रीति का निर्धारण करे जिनके आधार पर तथा जिस प्रकार प्रतिकर दिया जाना है; और इस “प्रावधान” के उल्लंघन को, चाहे उसे अनुच्छेद 31(2) का प्रावधान कहा जाए अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 का, पहले से उल्लिखित कारणों से अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी को दृष्टिगत रखते हुए प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। यह भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि अनुच्छेद 31(4), उसमें प्रयुक्त “इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी” शब्दों के कारण, अधिनियम को प्रतिकर के भुगतान अथवा लोक प्रयोजन के

अस्तित्व से संबंधित संविधान के सभी प्रावधानों के अनुपालन न किए जाने से उत्पन्न कथित विधायी अक्षमता के विरुद्ध भी संरक्षण प्रदान करेगा, जिसमें सूची III की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों में अंतर्निहित मानी गई वास्तविक प्रतिकर उत्पन्न करने की कथित आवश्यकता भी सम्मिलित है। मेरे निर्णय में, बिहार विधायिका की सूची II की प्रविष्टि 36 अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के अंतर्गत अधिनियमित करने की विधायी अक्षमता के आधार पर अधिनियम को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता।

जो कुछ मैंने ऊपर कहा है, वह श्री पी. आर. दास द्वारा अधिनियम के विरुद्ध उठाए गए प्रथम आक्षेप-आधार को अस्वीकार करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु दूसरे मुख्य आक्षेप-आधार पर जाने से पूर्व मैं उचित समझता हूँ कि हमारे समक्ष प्रस्तुत कुछ सहायक बिंदुओं का भी विचार कर लिया जाए।

यह कहा गया है कि अधिनियम की मुख्य प्रवर्तनीय धारा, अर्थात् धारा 3, किराया-बकायों के अधिग्रहण का न तो विचार करती है और न ही उसे प्राधिकृत करती है, क्योंकि उस धारा के अधीन जारी अधिसूचना केवल संपदाओं अथवा भूधृतियों के राज्य में निहित होने का उल्लेख करती है। तथापि, यह ध्यान देने योग्य है कि उस अधिसूचना के जारी होने का परिणाम यह होता है कि किराया-बकायों सहित धारा 4 के खंड (ख) में उल्लिखित सभी बकाये भी राज्य में निहित हो जाते हैं तथा राज्य द्वारा वसूल किए जा सकते हैं। राज्य में किराया-बकायों का यह निहित होना आवश्यकतः स्वामियों अथवा भूधृतिधारकों के अधिकारों के राज्य को हस्तांतरण का द्योतक है और इसलिए यह प्रक्रिया राज्य द्वारा उस अधिकार के अधिग्रहण के समतुल्य होनी चाहिए। अतः प्रभावतः अधिनियम राज्य द्वारा किराया-बकायों के अधिग्रहण का विचार करता है।

विलिस की संवैधानिक विधि, पृष्ठ 816, के एक उद्धरण के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण शक्ति का प्रयोग मुद्रा तथा वादयोग्य दावों सहित संपत्ति के कुछ अन्य असामान्य रूपों के संबंध में नहीं किया जा सकता। यह उद्धरण अमेरिकी न्यायालयों के कुछ पूर्ववर्ती निर्णयों पर आधारित है। तथापि, *प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण पर निकोल्स*, खंड I, पृष्ठ 99, अनुच्छेद 2, तथा उसमें उद्धृत *सिनसिनाटी बनाम लुईविल एंड एन. आर. कंपनी*⁽¹⁾ के मामले से यह स्पष्ट है कि आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण का अधिकार वादयोग्य दावों पर भी प्रयोग किया जा सकता है। किसी भी स्थिति में हमें यह विचार करना है कि क्या किराया-बकाये "संपत्ति" हैं उस अर्थ में जिसमें यह

(1) 223 यू.एस. 390; 50 एल.ई.डी. 481

अभिव्यक्ति हमारे संविधान में प्रयुक्त हुई है तथा हमारे विधि-विधान में समझी जाती है। किराया-बकाये और क्या हैं सिवाय उस किराये के जो देय हो चुका है किन्तु जिसका भुगतान नहीं किया गया है? वह भू-स्वामी के कोष में विद्यमान धनराशि नहीं है, बल्कि वह काश्तकारों द्वारा देय ऋण है। अतः वह काश्तकारों के विरुद्ध मात्र एक वादयोग्य दावा है, जो निःसंदेह “संपत्ति” की एक श्रेणी है और हस्तांतरणीय है। इसलिए राज्य द्वारा भी उसे “संपत्ति” की एक श्रेणी के रूप में समान रूप से अधिग्रहित किया जा सकता है।

अंततः यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि अधिनियम इस संपत्ति-मद के अधिग्रहण के लिए प्रतिकर के भुगतान का कोई प्रावधान नहीं करता। यह सत्य है कि धारा 24 में “प्रतिकर” शब्द का प्रयोग संपदाओं अथवा भूधृतियों के अधिग्रहण तथा खानों एवं खनिजों के अधिग्रहण के संबंध में किया गया है, किन्तु किराया-बकायों के उस पचास प्रतिशत भाग के संबंध में नहीं, जिसे प्रतिकर में जोड़े जाने का निर्देश दिया गया है। तथापि, बकायों के पचास प्रतिशत भाग को जोड़ने का यह प्रावधान भी “प्रतिकर का निर्धारण” शीर्षक वाले अध्याय में ही प्रकट होता है और इसलिए बकायों का पचास प्रतिशत भाग प्रतिकर के निर्धारण की प्रक्रिया में जोड़ा जाता है। इसके अतिरिक्त, यदि यह प्रतिकर के लिए न हो, तो यह पचास प्रतिशत भाग स्वामियों अथवा भूधृतिधारकों को दिया ही क्यों जाता? यह इंगित किया गया है कि जब राज्य एक लाख रुपये ले लेता है और 50,000 रुपये वापस कर देता है, तब वह वास्तव में कोई प्रतिकर नहीं देता, बल्कि इस युक्ति एवं उपाय द्वारा शेष 50,000 रुपये बिना किसी प्रतिफल के ले लेता है। प्रथम दृष्टया यह तर्क आकर्षक प्रतीत होता है, किन्तु किसी सुदृढ़ सिद्धांत पर आधारित नहीं है। यह तर्क केवल इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि आधा भाग, मानो उसी मुद्रा में, वापस किया जाता है। यदि धनराशि के लिए प्रतिकर, उदाहरणार्थ, उस अधिग्रहित धनराशि के आधे मूल्य की कोई भूमि देकर किया जाता, तब यह तर्क उपलब्ध नहीं होता और केवल यही कहा जा सकता था कि इस प्रकार दी गई भूमि, अनिवार्यतः ली गई धनराशि के मूल्य के समतुल्य न होने के कारण, न्यायोचित प्रतिकर नहीं कही जा सकती। ऐसा तर्क, निःसंदेह, अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी को दृष्टिगत रखते हुए निष्फल होता। किन्तु जब किराया-बकायों के अधिग्रहण के लिए प्रतिकर धनराशि में दिया जाता है, तब मुझे सिद्धांत अथवा विधि में कोई अंतर दिखाई नहीं देता। ऐसे मामले में यदि बकाये की राशि का केवल आधा भाग लौटाया जाता है, तो स्पष्ट शिकायत यह होगी कि 50,000 रुपये की वापसी, 1,00,000 रुपये लेने के लिए न्यायसंगत अथवा पर्याप्त प्रतिकर नहीं है, और यदि हमारे संविधान में अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी जैसे प्रावधान न होते,

तो ऐसी शिकायत संभवतः स्वीकार कर ली जाती। इसके अतिरिक्त, यह तर्क इस तथ्य की पूर्णतः उपेक्षा करता है कि किराया-बकाये वास्तव में स्वामी अथवा भूधृतिधारक के कोष में विद्यमान नकद धनराशि नहीं हैं, बल्कि केवल काशतकारों द्वारा देय ऋण हैं। इस लेखा-ऋण का बाजार-मूल्य क्या है? इस ऋण की वसूली करनी होगी, संभवतः वाद दायर करके तथा उसके पश्चात् निष्पादन कार्यवाही द्वारा, जिसमें समय एवं व्यय दोनों लगेंगे। इसका कुछ भाग, यह भी संभव है, कभी वसूल ही न हो सके। अतः राज्य किराया-बकायों की वसूली होने अथवा न होने का जोखिम अपने ऊपर लेता है, किन्तु उनकी वसूली के लिए उसके प्रयासों के परिणाम की परवाह किए बिना, बकायों का पचास प्रतिशत भाग एकमुश्त प्रतिकर में जोड़ दिया जाता है। मेरे मत में, यह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि किराया-बकायों के लिए वास्तव में प्रतिकर दिया जाता है और मैं यह कहने के लिए तैयार नहीं हूँ कि लेखा-ऋणों के आधे भाग का प्रतिकर के रूप में भुगतान इतना मायावी है कि उसे कुछ भी न माना जाए, जैसा कि श्री पी. आर. दास ने तर्क किया है। यदि वह अपर्याप्त भी हो, तो शिकायत यह नहीं होगी कि अधिनियम में सूची III की प्रविष्टि 42 द्वारा अपेक्षित कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किया गया है, बल्कि यह होगी कि इस प्रकार निर्धारित सिद्धांत पर्याप्त प्रतिकर उत्पन्न नहीं करता और इसलिए अनुच्छेद 31(2) के प्रावधानों का उल्लंघन होता है। तथापि, ऊपर स्पष्ट किए गए कारणों से, उस दोष को अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी को दृष्टिगत रखते हुए आक्षेप का आधार नहीं बनाया जा सकता।

आधार ख : श्री पी. आर. दास द्वारा प्रस्तुत दूसरा बिंदु यह है कि यदि न्यायालय इस तर्क को स्वीकार न करे कि प्रतिकर प्रदान करने की आवश्यकता सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 में अंतर्निहित है और यह धारण करे कि उत्तरदाता अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के प्रावधानों के कारण इस आधार पर अधिनियम की वैधता को प्रश्नगत करने से वर्जित हैं कि वह प्रतिकर का प्रावधान नहीं करता, तब भी उत्तरदाता लोक प्रयोजन के अभाव के आधार पर अधिनियम को चुनौती देने के अधिकारी हैं। यह कि अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति के प्रयोग के लिए लोक प्रयोजन का अस्तित्व एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा है, विद्वान महान्यायवादी द्वारा विवादित नहीं किया गया है। उत्तरदाताओं की ओर से प्रस्तुत तर्क यह है कि निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए पूर्वशर्त के रूप में लोक प्रयोजन के अस्तित्व की आवश्यकता अनुच्छेद 31(2) का कोई "प्रावधान" नहीं है, बल्कि सूची II की प्रविष्टि 36 अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 की एक अपेक्षा है। "लोक प्रयोजनों के लिए" शब्द निःसंदेह अनुच्छेद 31(2) में आते हैं, किन्तु यह कहा गया है कि "प्रावधान" और

“पूर्वधारणा” में भेद है। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि अनुच्छेद 31(2) ऐसी विधि की पूर्वधारणा करता है जो लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अधिकार ग्रहण अथवा अधिग्रहण को प्राधिकृत करती है और यह उपबंध करता है कि उस लोक प्रयोजन के लिए भी संपत्ति का अधिकार ग्रहण अथवा अधिग्रहण तब तक नहीं किया जाएगा जब तक वह विधि प्रतिकर का भी प्रावधान न करे। अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अनुच्छेद 31(2) का एकमात्र “प्रावधान” यह है कि लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अधिकार ग्रहण अथवा अधिग्रहण को प्राधिकृत करने वाली विधि प्रतिकर का प्रावधान करे, और यही “प्रावधान” मात्र ऐसा है जिसे संविधान के अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के कारण अधिनियम के विरुद्ध आक्षेप का आधार नहीं बनाया जा सकता। इस तर्क को रूबेन न्यायमूर्ति तथा एस. के. दास न्यायमूर्ति की स्वीकृति प्राप्त हुई। बाद वाले विद्वान न्यायमूर्ति ने *सर कामेश्वर सिंह बनाम बिहार प्रांत*⁽¹⁾ के पूर्ववर्ती मामले में अपने ही निर्णय के एक अंश का उल्लेख करने के पश्चात् निम्नलिखित निष्कर्ष व्यक्त किया :-

“खंड (2), कठोर अर्थ में, स्पष्ट शब्दों में ‘लोक प्रयोजन’ को अनिवार्य अधिग्रहण के लिए पूर्वशर्त नहीं बनाता, बल्कि यह पूर्वधारणा करता है कि ऐसा अधिग्रहण केवल लोक प्रयोजनों के लिए ही हो सकता है; वह ऐसा आवश्यक निहितार्थ द्वारा करता है।”

तत्पश्चात् विद्वान न्यायमूर्ति *चिरंजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ एवं अन्य*⁽¹⁾ में मेरे विद्वान भ्राता मुखर्जी न्यायमूर्ति के निर्णय के निम्नलिखित अंश का उल्लेख करते हैं :-

“संविधान का अनुच्छेद 31(2) उन सीमाओं का द्विविध निर्धारण करता है जिनके भीतर राज्य के ऐसे श्रेष्ठ अधिकार का प्रयोग किया जाना चाहिए। निजी संपत्ति के अधिग्रहण अथवा उसके अधिकार ग्रहण पर अधिरोपित एक सीमा, जो इस खंड में निहित है, यह है कि ऐसा अधिकार-हरण लोक प्रयोजन के लिए होना चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि किसी संपत्ति का अधिग्रहण तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि ऐसा अधिकार-हरण प्राधिकृत करने वाली विधि में उस खंड में विनिर्दिष्ट रीति से प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान न हो।”

तथापि, मैं यह नहीं देख पाता कि मुखर्जी न्यायमूर्ति की उपर्युक्त टिप्पणियाँ किसी प्रकार श्री पी. आर. दास के इस तर्क का समर्थन करती हैं कि लोक प्रयोजन का अस्तित्व अनुच्छेद 31(2) का कोई प्रावधान नहीं है, बल्कि निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण संबंधी किसी भी विधिनिर्माण की एक अंतर्निहित शर्त है। यह महत्वपूर्ण है कि मुखर्जी न्यायमूर्ति

(1) ए.आई.आर. 1950 पीएटी 392

(1) [1950] एससीआर. 869.

यह स्वीकार करते हैं कि अनुच्छेद 31(2) द्विविध सीमा "विनिर्दिष्ट" करता है। निश्चय ही, जो सीमा अनुच्छेद द्वारा "विनिर्दिष्ट" की गई है, वह उसका एक प्रावधान ही होनी चाहिए। किसी भी स्थिति में, जो कुछ उस खंड में निहित है, वह भी उस खंड का प्रावधान ही होना चाहिए, क्योंकि "प्रावधान" अभिव्यक्ति निःसंदेह इतनी व्यापक है कि उसमें निहित तथा व्यक्त—दोनों प्रकार के प्रावधान सम्मिलित हो सकें। जैसा भी हो, मैं इससे भी आगे जाने के लिए तैयार हूँ और उन कारणों से जिन्हें मैं अभी स्पष्ट करूँगा, यह कहता हूँ कि लोक प्रयोजन की आवश्यकता, अनिवार्य अधिग्रहण की एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा के रूप में, यदि कुछ है, तो मूलतः उसी खंड का प्रावधान तथा उसका अभिन्न अंग है।

अनुच्छेद 31 संविधान के भाग III में "मौलिक अधिकार" शीर्षक के अंतर्गत सम्मिलित अनुच्छेदों के एक समूह में से एक है। यह निजी संपत्ति को राज्य की कार्यवाही से संरक्षित करने की सीमा तक मौलिक अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद का खंड (1) स्वामी को विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त उसकी संपत्ति से वंचित किए जाने से संरक्षण प्रदान करता है। खंड (1) की भाषा का निकट परीक्षण यह प्रदर्शित करेगा कि यह प्रतिरक्षा सीमित है और यह बात तुरंत स्पष्ट हो जाएगी यदि हम खंड (1) की निषेधात्मक भाषा को सकारात्मक भाषा में परिवर्तित कर दें। अपने सकारात्मक रूप में खंड (1) इस प्रकार पढ़ा जाएगा :-

"किसी व्यक्ति को विधि के प्राधिकार द्वारा उसकी संपत्ति से वंचित किया जा सकता है।"

राज्य की कार्यवाही पर अधिरोपित एकमात्र सीमा यह अपेक्षा है कि किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित करने की उसकी शक्ति के प्रयोग के लिए विधि का प्राधिकार एक पूर्वापेक्षा हो। इससे स्वामी को कुछ संरक्षण प्राप्त होता है, क्योंकि उसे विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा, और यही संरक्षण उस मौलिक अधिकार का माप है। राज्य की कार्यवाही से इस प्रतिरक्षा को मौलिक अधिकार के रूप में विशेष रूप से रेखांकित करने के लिए ही इस खंड को निषेधात्मक भाषा में शब्दबद्ध किया गया है। इसी प्रकार, खंड (2) को भी उसमें निहित मौलिक अधिकार को रेखांकित करने के लिए निषेधात्मक भाषा में शब्दबद्ध किया गया है। इस मौलिक अधिकार के प्रतिपादन के लिए आवश्यकतः राज्य की कार्यवाही की सीमा एवं परिधि का कथन अपेक्षित है और राज्य की कार्यवाही की सीमा एवं परिधि निर्धारित करने के लिए उस पर अधिरोपित सीमाओं का विनिर्देशन आवश्यक है, क्योंकि वही सीमा मौलिक अधिकार का माप है। अनुच्छेद के खंड

(2) को, हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए अनावश्यक शब्दों को हटाकर, उसके सकारात्मक रूप में इस प्रकार पढ़ा जाएगा :-

“किसी भी संपत्ति का लोक प्रयोजनों के लिए, ऐसे अधिकार-ग्रहण अथवा ऐसे अधिग्रहण को प्राधिकृत करने वाली किसी विधि के अधीन, अधिकार-ग्रहण अथवा अधिग्रहण किया जा सकता है, यदि वह विधि उस अधिकार-ग्रहण की गई अथवा अधिग्रहित संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान करती हो

उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत किए जाने पर, यह खंड तत्काल एवं किसी भी प्रकार के संदेह से परे यह स्पष्ट कर देता है कि राज्य की शक्ति पर तीन सीमाएँ अधिरोपित की गई हैं, अर्थात् (1) संपत्ति का अधिकार-ग्रहण अथवा अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए होना चाहिए, (2) ऐसा अधिकार-ग्रहण अथवा अधिग्रहण उस अधिकार-ग्रहण अथवा अधिग्रहण को प्राधिकृत करने वाली किसी विधि के अधीन होना चाहिए, और (3) उस विधि में इस प्रकार अधिकार-ग्रहण की गई अथवा अधिग्रहित संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान होना चाहिए। ये तीनों सीमाएँ संपत्ति के स्वामी को प्रदान किए गए संरक्षण का गठन करती हैं और इसी खंड के अधीन उसके मौलिक अधिकार का माप हैं। यदि ये सीमाएँ अनुच्छेद के प्रावधान न होतीं, तो यह अनुच्छेद कोई प्रतिरक्षा प्रदान ही नहीं करता। अतः मेरा स्पष्ट मत है कि अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में लोक प्रयोजन का अस्तित्व खंड (2) के “प्रावधानों” का एक आवश्यक एवं अभिन्न अंग है। यदि लोक प्रयोजन की आवश्यकता अनुच्छेद 31(2) का प्रावधान न होती, तो यह स्पष्टतः हमें इस अस्थिर निष्कर्ष तक ले जाती कि संसद अनुच्छेद 248 तथा सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 97 के अधीन अपनी अवशिष्ट शक्तियों के अंतर्गत निजी संपत्ति के अधिग्रहण के लिए बिना किसी लोक प्रयोजन के भी विधि बनाने के लिए स्वतंत्र होगी, और इससे भी अधिक असंगत परिणाम यह होता कि जहाँ संसद को लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अधिग्रहण संबंधी अपनी विधि में अनुच्छेद 31(2) के अधीन प्रतिकर का प्रावधान करना पड़ता, वहीं उसे बिना लोक प्रयोजन के संपत्ति के अधिग्रहण के लिए बनाई गई विधि में प्रतिकर का कोई प्रावधान करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा संविधान-निर्माताओं का आशय कभी नहीं हो सकता था। अतः, जैसा कि मैं धारण करता हूँ, अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्वशर्त के रूप में लोक प्रयोजन का अस्तित्व अनुच्छेद 31(2) का एक “प्रावधान” है, इसलिए ऐसे प्रावधान के उल्लंघन को अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के अधीन अधिनियम की वैधता को प्रश्नगत करने के आधार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

इस मुख्य आधार पर श्री पी. आर. दास की दूसरी तर्क-पंक्ति यह है कि लोक प्रयोजन के अस्तित्व की आवश्यकता सूची ॥ की प्रविष्टि 36 में निहित है और लोक प्रयोजन का अस्तित्व सूची ॥ की प्रविष्टि 42 की भी एक अपेक्षा है, जिसे सूची ॥ की प्रविष्टि 36 के अंत में प्रयुक्त "के अधीन" आदि शब्दों के कारण उस प्रविष्टि का अंग बना दिया गया है, और उनका निष्कर्ष यह है कि लोक प्रयोजन के अभाव में बिहार विधायिका को इन दोनों प्रविष्टियों के अधीन आक्षेपित अधिनियम बनाने की कोई विधायी क्षमता प्राप्त नहीं थी तथा यह आक्षेप-आधार अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के प्रावधानों के होते हुए भी अभी उनके लिए उपलब्ध है। वे निजी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में लोक प्रयोजन के अस्तित्व पर बल देने हेतु संविधान के किसी अन्य भाग पर निर्भर नहीं करते। प्रविष्टि 36, संघ के प्रयोजन को छोड़कर, किसी भी प्रयोजन को आवृत करती है और वह अपने शब्दों में लोक प्रयोजन तक सीमित नहीं है। द्वितीयतः, सूची ॥ की प्रविष्टि 36 के अंत में प्रयुक्त "के अधीन" आदि शब्दों पर आधारित तर्क, जिनके बारे में यह माना गया है कि वे सूची ॥ की प्रविष्टि 42 के प्रावधानों को सूची ॥ की प्रविष्टि 36 में समाविष्ट करते हैं, सुदृढ़ आधार पर नहीं है, और यह बात तब स्पष्ट हो जाती है जब हम सूची ॥ की प्रविष्टि 33 को देखते हैं। उस प्रविष्टि के अंत में "के अधीन" आदि जैसे कोई शब्द नहीं हैं और इसलिए सूची ॥ की प्रविष्टि 42 के अधीन लोक प्रयोजन की कथित आवश्यकता को सूची ॥ की प्रविष्टि 33 में समाविष्ट नहीं कहा जा सकता। परिणामतः यह निष्कर्ष निकलेगा कि जहाँ सूची ॥ की प्रविष्टि 36, जिसे उसमें प्रयुक्त "के अधीन" आदि शब्दों के कारण सूची ॥ की प्रविष्टि 42 के साथ पढा जाना है, के अधीन राज्य की विधायिका केवल लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण संबंधी विधि बना सकती है, वहीं संसद, सूची ॥ की प्रविष्टि 33 के अधीन, जो सूची ॥ की प्रविष्टि 42 को आकर्षित नहीं करती, लोक प्रयोजन के बिना भी संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण संबंधी विधि बना सकती है। ऐसा परिणाम संविधान का आशय कभी नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त, सूची ॥ की प्रविष्टि 42 की ओर दृष्टिपात करने पर मुझे श्री पी. आर. दास के तर्क के समर्थन में कुछ भी नहीं मिलता। उस प्रविष्टि में प्रयुक्त शब्द "संघ अथवा किसी राज्य के प्रयोजनों के लिए अथवा किसी अन्य लोक प्रयोजन के लिए अधिग्रहित अथवा अधियाचित" केवल पूर्ववर्ती शब्द "संपत्ति" के वर्णनात्मक शब्द हैं। सूची ॥ की प्रविष्टि 42 में, एक विधायी शीर्ष के रूप में, वे विषय सम्मिलित हैं जो प्रतिकर के निर्धारण के सिद्धांतों तथा उस संपत्ति के लिए प्रतिकर दिए जाने के स्वरूप एवं रीति से संबंधित हैं, जिसका वर्णन निर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए अधिग्रहित अथवा अधियाचित संपत्ति के रूप में किया गया है। उस प्रविष्टि को किसी भी प्रकार संपत्ति के अधिग्रहण के लिए विधायी

शीर्ष नहीं माना जा सकता और उससे भी कम यह कहा जा सकता है कि उस प्रविष्टि का उद्देश्य अथवा क्षेत्राधिकार किसी संपत्ति के अधिग्रहण के लिए पूर्वशर्त के रूप में लोक प्रयोजन की कोई आवश्यकता निर्धारित करना है। मेरे मत में, श्री पी. आर. दास के इस तर्क-भाग के लिए सूची III की प्रविष्टि 42 उनसे कोई सहायता प्रदान नहीं करती। इसके अतिरिक्त, जिन कारणों से मैंने प्रतिकर प्रदान करने के दायित्व को सूची II की प्रविष्टि 36 में, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर, निहित मानने संबंधी उनके तर्कों को अस्वीकार किया है, वही कारण आवश्यक परिवर्तनों सहित इस तर्क पर भी समान रूप से लागू होंगे और उन्हें यहाँ पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में कहें तो, अनुच्छेद 31(2) के वे प्रावधान, जो, जैसा कि मैंने स्पष्ट किया है, लोक प्रयोजन के अस्तित्व की अपेक्षा करते हैं, सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 में पढ़े जाने वाले कथित निहितार्थ को अपवर्जित कर देंगे। द्वितीयतः, अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी जिस बात को अपवर्जित करते हैं, वह खंड (2) के "प्रावधान" के उल्लंघन के आधार पर अधिनियम को चुनौती देना है। यदि संपत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए पूर्वशर्त के रूप में लोक प्रयोजन के अस्तित्व की आवश्यकता संबंधी अनुच्छेद 31 के खंड (2) के "प्रावधान" को उन दोनों विधायी प्रविष्टियों में भी निहित माना जाए, तो निश्चय ही अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी, और विशेष रूप से अनुच्छेद 31(4), जिसमें "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" शब्द हैं, अधिनियम को ऐसे निहित प्रावधान से संरक्षण प्रदान करेंगे, उन कारणों से जिन्हें मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ। तदनुसार, श्री पी. आर. दास का दूसरा मुख्य बिंदु अस्थिर मानकर अस्वीकार किया जाना चाहिए।

यह मान भी लिया जाए कि लोक प्रयोजन के अस्तित्व की आवश्यकता अनुच्छेद 31(2) का प्रावधान नहीं है, बल्कि केवल सूची II की प्रविष्टि 36 और/अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 का ही प्रावधान है, और परिणामतः अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी उत्तरदाताओं को लोक प्रयोजन के अभाव से उत्पन्न विधायी अक्षमता के आधार पर अधिनियम की वैधता को चुनौती देने से नहीं रोकते, तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या वास्तव में हमारे संविधान के अर्थ में ऐसा कोई लोक प्रयोजन विद्यमान है जो अधिनियम का समर्थन कर सके। यह ध्यान देने योग्य है कि स्वयं अधिनियम में किसी लोक प्रयोजन का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु यह स्वीकार किया गया है कि यह परिस्थिति अधिनियम की वैधता के लिए घातक नहीं है। तथापि, यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यह परिस्थिति फिर भी यह दर्शाती है कि अधिनियम पारित किए जाने के समय विधायिका के समक्ष कोई लोक प्रयोजन नहीं

था। यह दावा किया गया है कि, ऐसे किसी उल्लेख के अभाव के अतिरिक्त, अधिनियम के किसी भी प्रवर्तनीय प्रावधान में लोक प्रयोजन के अस्तित्व का कोई संकेत नहीं है। यह विवादित नहीं है कि इस अधिनियम के परिणामस्वरूप वर्तमान किराये तथा किराया-बकायों के रूप में काशतकारों द्वारा अपने-अपने भू-स्वामियों को देय अत्यंत विशाल धनराशि अब राज्य द्वारा अवरुद्ध कर ली जाएगी; किन्तु *कूली की संवैधानिक सीमाएँ*, 8 वाँ संस्करण, खंड II, पृष्ठ 1118 (पाद-टिप्पणी 1) तथा प्रोफेसर विलिस की *संवैधानिक विधि*, पृष्ठ 817, के कुछ उद्धरणों के प्राधिकार पर यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि सार्वजनिक राजस्व में वृद्धि करने का वैध साधन प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण की शक्ति का प्रयोग नहीं, बल्कि कराधान-शक्ति का प्रयोग है। यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि अधिनियम का समर्थन करने हेतु कोई लोक प्रयोजन नहीं है, यह कहकर कि बिहार में अभिलेखित स्वामियों की संख्या लगभग 13,35,919 है और यह मानते हुए कि प्रत्येक परिवार में चार व्यक्ति हैं, इस विधिनिर्माण के परिणामस्वरूप लगभग पचपन लाख लोग नष्ट हो जाएँगे, जबकि भूमि के वास्तविक जोतदारों को इससे कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि वे वहीं बने रहेंगे जहाँ वे हैं और उन्हें पूर्ववत् अपना किराया अपने वर्तमान भू-स्वामियों के स्थान पर राज्य को देना पड़ेगा, जो उन्हें किसी भी मानवीय भावना से रहित एक कठोर यांत्रिक व्यवस्था से अधिक कुछ नहीं प्रतीत होगा। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि लोक प्रयोजन कोई निश्चित, मूर्त तथा तात्कालिक वस्तु होना चाहिए और उसके अस्तित्व का कुछ संकेत स्वयं अधिनियम में होना चाहिए तथा राज्य आज निजी संपत्ति का अधिग्रहण करके यह नहीं कह सकता कि वह अपनी सुविधा के अनुसार बाद में लोक प्रयोजन पर विचार करेगा। इससे मैं इस विचार की ओर अग्रसर होता हूँ कि हमारे संविधान के अर्थ में "लोक प्रयोजन" क्या है।

हमें "लोक उपयोग" के अर्थ एवं निहितार्थ का निर्धारण करने के लिए कुछ अमेरिकी प्राधिकारों की ओर संदर्भित किया गया है, जो अभिव्यक्ति स्पष्टतः हमारे संविधान में प्रयुक्त "लोक प्रयोजन" अभिव्यक्ति की अपेक्षा अधिक सीमित अर्थवत्ता रखती है। इसके अतिरिक्त, पाठ्य-पुस्तकों, उदाहरणार्थ प्रोफेसर विलिस की *संवैधानिक विधि*, पृष्ठ 817 आदि, का अवलोकन करने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका में "लोक उपयोग" क्या है, इस संबंध में धारणा तीव्र गति से परिवर्तित हो रही है। पूर्वकाल में "लोक उपयोग" का अर्थ जनता द्वारा उपयोग किया जाना था। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार "लोक उपयोग" का अर्थ जनता के लिए उपयोगी होना है। पटना उच्च न्यायालय के एस. के. दास न्यायमूर्ति द्वारा

उद्धृत कूली की संवैधानिक सीमाएँ, खंड II, पृष्ठ 1139-40, का अंश इस स्थिति का सार इस प्रकार प्रस्तुत करता है :-

“लोक उपयोग’ पद की कोई संतोषजनक परिभाषा न्यायालयों द्वारा कभी प्राप्त नहीं की जा सकी है। इस अभिव्यक्ति पर लागू होने वाले विषयों का वर्णन करने के न्यायिक प्रयासों में दो भिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। ‘लोक उपयोग’ का एक सिद्धांत उसके प्रयोग को ‘नियोजन’ अथवा ‘अधिभोग’ तक सीमित करता है। एक अधिक उदार एवं अधिक लचीला अर्थ इसे ‘लोक लाभ’ अथवा ‘सार्वजनिक हित’ का पर्याय बना देता है। थोड़ी-सी जाँच यह प्रदर्शित कर देगी कि जो भी परिभाषा देने का प्रयास किया जाएगा, वह कुछ ऐसे विषयों को अपवर्जित कर देगी जिन्हें उचित रूप से ‘लोक उपयोग’ शब्दों के क्रियाक्षेत्र में सम्मिलित होना चाहिए, तथा कुछ ऐसे विषयों को सम्मिलित कर लेगी जिन्हें उससे बाहर रखा जाना चाहिए। जैसा कि अपेक्षित था, इस सिद्धांत का अधिक सीमित प्रयोग प्रारम्भिक मामलों में दिखाई देता है और सभ्यता के नवीन विकासों तथा जनसंख्या की बढ़ती सघनता से उत्पन्न जटिल परिस्थितियों के कारण अधिक उदार प्रयोग आवश्यक हो गया है। विषय की प्रकृति ही ऐसी है कि आधुनिक परिस्थितियाँ तथा समुदाय की प्रगतिशील जटिलता में विभिन्न मानवीय तत्त्वों की बढ़ती पारस्परिक निर्भरता सरकार के लिए यह आवश्यक बना देती है कि वह पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक बिंदुओं पर व्यक्तिगत गतिविधियों को स्पर्श करे और सीमित करे।”

इसी आशय के निम्नलिखित अवलोकन 'कॉर्पस ज्यूरिस', खंड XX, अनुच्छेद 39 में, पृष्ठ 552 और 553 पर, "सार्वजनिक उपयोग क्या है" शीर्षक के अंतर्गत मिलते हैं:-

“‘लोक उपयोग’ के लिए संवैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली सार्वजनिक हित की मात्रा क्या होगी, इसकी कोई सामान्य परिभाषा निर्धारित नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्येक मामले में यह लोक नीति का प्रश्न होता है। इस पद का अर्थ लचीला है और वह किसी विशेष समय में जो लोक उपयोग माना जाए उसी तक सीमित नहीं है, किन्तु सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि यह ऐसे उपयोग को आवृत करता है जो सामान्य जनता अथवा उसके किसी वर्ग को प्रभावित करता हो, जैसा कि विशिष्ट व्यक्तियों से भिन्न है। कुछ न्यायालय उदार व्याख्या की दिशा में इतने आगे बढ़ गए हैं कि उन्होंने ‘लोक उपयोग’ को ‘लोक लाभ’, ‘लोक उपयोगिता’ अथवा ‘लोक सुविधा’ का पर्याय माना है, तथा ऐसे लोक लाभ आदि को प्रोत्साहित करने के लिए प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण की शक्ति के प्रयोग को प्राधिकृत किया है, विशेषतः जहाँ संबंधित हित अत्यधिक महत्वपूर्ण हों और यह प्रयत्न

किया जा रहा हो कि समुदाय के सामान्य कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए किसी क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों एवं लाभों का अधिकतम विकास हो सके।”

तत्पश्चात् विद्वान लेखक उस अभिव्यक्ति को दिए गए अधिक सीमित अर्थ की चर्चा करते हैं। श्री पी. आर. दास ने हमारा ध्यान *हमाबाई फ्रामजी पेटिट बनाम भारत सचिव*⁽¹⁾ के मामले में न्यायिक समिति के निर्णय की ओर आकर्षित किया है। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि उस मामले में न्यायिक समिति को उन्नीसवीं शताब्दी के एक पट्टे में प्रयुक्त “लोक प्रयोजन” शब्दों के अर्थ पर विचार करना था। यहाँ तक कि 1914 में भी न्यायिक समिति ने “लोक प्रयोजन” अभिव्यक्ति की कोई निश्चित परिभाषा देने का प्रयास उचित नहीं समझा और बैचलर न्यायमूर्ति के निर्णय के निम्नलिखित अंश को अनुमोदनपूर्वक उद्धृत करने तक ही स्वयं को सीमित रखा :-

“मेरे विचार में, जहाँ तक संभव हो, सामान्य परिभाषाओं से बचना चाहिए और मैं पट्टे में प्रयुक्त ‘लोक प्रयोजन’ पद की सीमा को यथार्थ रूप से परिभाषित करने का कोई प्रयास नहीं करता; इतना कहना पर्याप्त है कि, मेरे मत में, इस पद का अर्थ चाहे जो भी हो, उसमें ऐसा प्रयोजन, अर्थात् ऐसा उद्देश्य अथवा अभिप्राय, अवश्य सम्मिलित होना चाहिए जिसमें समुदाय के सामान्य हित का, व्यक्तिगत व्यक्तियों के विशिष्ट हित के विपरीत, प्रत्यक्ष एवं अत्यावश्यक संबंध हो।”

और यह उचित ही था कि कोई कठोर एवं निश्चित परिभाषा निर्धारित नहीं की गई, क्योंकि “लोक प्रयोजन” की अवधारणा विश्व के सभी देशों में तीव्र गति से परिवर्तित होती रही है। तथापि, उपर्युक्त उद्धरण में “समुदाय के सामान्य हित” का जो उल्लेख है, वह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि किसी उद्देश्य अथवा अभिप्राय में इसी तत्व की उपस्थिति उस उद्देश्य अथवा अभिप्राय को लोक प्रयोजन में परिवर्तित कर देती है।

अब तक जो कुछ मैंने कहा है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो कुछ भी समुदाय के सामान्य हित को, व्यक्तिगत व्यक्ति के विशिष्ट हित के विपरीत, आगे बढ़ाता है, उसे लोक प्रयोजन माना जाना चाहिए। सभ्यता की निरंतर प्रगति के साथ समुदाय के सामान्य हित के क्षेत्र के संबंध में हमारी धारणाएँ तीव्र गति से परिवर्तित एवं विस्तृत होती जा रही हैं, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत व्यक्ति के निजी हित की पवित्रता संबंधी हमारी पुरानी एवं संकीर्ण धारणाएँ अब समय की अग्रसर धारा को रोक नहीं सकतीं और उन्हें अनिवार्यतः समुदाय के सामान्य हित की व्यापक धारणाओं के समक्ष स्थान छोड़ना पड़ता है।

(1) (1951) एल.आर. 42 आइ.ए 44.

बल का केंद्र स्पष्ट रूप से व्यक्ति से समुदाय की ओर स्थानांतरित हो रहा है। सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन की यह आधुनिक प्रवृत्ति हमारे संविधान में भली-भाँति परिलक्षित होती है तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। मेरी समझ के अनुसार, हमारे संविधान ने व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की है, बल्कि उसने व्यक्ति के हित का समुदाय के सर्वोपरि हित के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। जैसा कि मैंने *गोपालन* के मामले⁽¹⁾ में और फिर से *चिरंजीत लाल* के मामले (उपर्युक्त) में समझाया था, हमारा संविधान अनुच्छेद 19(1) (क) से (ड) तथा (ग) के तहत नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करता है, लेकिन राज्य को यह अधिकार भी देता है कि—भले ही वे स्वतंत्रताएँ बनी रहें—वह राज्य के हित में, या सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, अथवा आम जनता के हित में, उन पर उचित प्रतिबंध लगा सके; जैसा कि खंड (2) से (6) में उल्लेखित है। इसके अतिरिक्त, जैसे ही व्यक्ति की यह विनियमित स्वतंत्रता भी समुदाय की स्वतंत्रता के साथ असंगत हो जाती है और उसके लिए संकट उत्पन्न करती है, राज्य को अनुच्छेद 21 द्वारा, विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार, व्यक्ति को उसके जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित करने की शक्ति प्रदान की जाती है, यद्यपि यह शक्ति अनुच्छेद 22 के प्रावधानों के अधीन है। इसी प्रकार, हमारा संविधान अनुच्छेद 19(1)(फ) द्वारा निजी संपत्ति के अधिकार को पूर्णतः नहीं, बल्कि खंड (5) के अधीन सामान्य जनता के हित में विधि द्वारा अधिरोपित किए जाने वाले युक्तियुक्त निर्बंधों के अधीन संरक्षण प्रदान करता है, और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि जैसे ही समुदाय का हित इसकी अपेक्षा करता है, राज्य अनुच्छेद 31 के अधीन, विधि के प्राधिकार द्वारा, स्वामी को उसकी संपत्ति से वंचित कर सकता है, बशर्ते कि यदि यह वंचन राज्य द्वारा संपत्ति के अधिग्रहण अथवा अधियाचन के रूप में हो, तो प्रतिकर का भुगतान किया जाए। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट है कि एक नवीन दृष्टिकोण, जो व्यक्ति के हित की अपेक्षा समुदाय के सामान्य हित को उच्चतर स्थान प्रदान करता है, हमारे संविधान में सर्वत्र व्याप्त है। वास्तव में, जो बातें अभी हाल के अतीत में केवल आदर्शवादी नारों के समान प्रतीत होती थीं, वे अब हमारे संविधान की गौरवपूर्ण प्रस्तावना में निहित हैं, जो इस देश की जनता के उस गंभीर संकल्प की उद्घोषणा करती है कि सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय तथा प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता सुनिश्चित की जाए। जो बातें मानो कल तक केवल काल्पनिक सिद्धांत मानी जाती थीं, वे अब संविधान के भाग IV में प्रमुखता से विनिर्दिष्ट राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के रूप में स्वीकार कर ली गई हैं। अनुच्छेद 38 में हमारे समक्ष जो आदर्श रखा गया है, वह ऐसा राज्य विकसित करना है जो निरंतर

(1) [1950] एस.सी.आर.88

जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न करे, इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित एवं यथासंभव प्रभावी बनाकर, जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को अनुप्राणित करे। अनुच्छेद 39 के अधीन राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह अपनी नीति को, अन्य बातों के साथ-साथ, इस प्रकार निर्देशित करे कि समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण इस प्रकार वितरित हो कि वे सामान्य हित की सर्वोत्तम सेवा कर सकें तथा आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार न हो कि उससे संपत्ति एवं उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण सामान्य हानि का कारण बने। अनुच्छेद 23(2) में प्रयुक्त "लोक प्रयोजन" शब्द यह इंगित करते हैं कि संविधान इन शब्दों का अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयोग करता है। अंतहीन प्रगति की इस दौड़ में विधि को देश के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास की उन वास्तविकताओं के साथ कदम मिलाकर चलना चाहिए, जो संविधान में परिलक्षित होती हैं। अतः यदि राज्य को हमारे संविधान के इन उद्घोषित उद्देश्यों को प्रभावी बनाना है, तो हमें "लोक प्रयोजन" के अंतर्गत वह सब कुछ सम्मिलित मानना होगा जो राज्य की नीति के इन निदेशक सिद्धांतों में परिकल्पित जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए उपयुक्त हो, चाहे उस अभिव्यक्ति का अन्य कोई अर्थ क्यों न हो। इस नवीन दृष्टिकोण के आलोक में मैं पूछता हूँ कि जमींदारियों तथा मध्यवर्ती हितों के अधिग्रहण के उपायों को अपनाने में राज्य का उद्देश्य क्या है? निःसंदेह, उसका उद्देश्य उस भूमि को, जो समुदाय का पोषण एवं निर्वाह करती है तथा अपने वनों, खनिजों एवं अन्य संसाधनों द्वारा संपत्ति उत्पन्न करती है, राज्य के स्वामित्व अथवा नियंत्रण के अधीन लाकर सामान्य हित की सेवा करना है। भूमि पर राज्य का यह स्वामित्व अथवा नियंत्रण, राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के कार्यान्वयन की दिशा में एक आवश्यक प्रारंभिक कदम है और इसे लोक प्रयोजन के अतिरिक्त कुछ और नहीं माना जा सकता। यह उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि संविधान के भाग IV में विनिर्दिष्ट निदेशक सिद्धांत केवल किसी विशेष राजनीतिक दल की नीति नहीं हैं, बल्कि उनका उद्देश्य ऐसे सिद्धांतों का निर्धारण करना है जिनके अनुसार राज्य की नीति का संचालन हो, चाहे सत्ता में कोई भी दल क्यों न आए। इसके अतिरिक्त, यह सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए कि आक्षेपित अधिनियम का उद्देश्य किसी सीमित एवं संकीर्ण लोक प्रयोजन के लिए किसी विशिष्ट संपत्ति के आकस्मिक अधिग्रहण को प्राधिकृत करना नहीं है, बल्कि उसका उद्देश्य उस भू-धारण प्रणाली के उन्मूलन द्वारा, जिसे पुरातन एवं समुदाय के सामान्य हित के प्रतिकूल पाया गया है, संपत्ति उत्पन्न करने वाली भूमि के अधिकांश भाग को राज्य के स्वामित्व अथवा नियंत्रण के अधीन लाना है। अधिनियम एक भूमि आयोग की भी स्थापना करता है, जो समय-समय पर राज्य

सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली कृषिगत नीति के संबंध में सामान्यतः उसे परामर्श देगा। यह कहना असंभव है कि अधिनियम के समर्थन में कोई लोक प्रयोजन नहीं है। यही बिहार अधिनियम संविधान सभा के समक्ष था जब उसने अनुच्छेद 31(4) पारित किया और पुनः तब भी जब उसने इसी अधिनियम को संरक्षण प्रदान करने के लिए संविधान में संशोधन करने का प्रयास किया। क्या संविधान सभा ने इन अधिनियमों को संरक्षण देना उचित समझा होता यदि वह इस बात से आश्वस्त न होती कि यह अधिनियम समुदाय के सामान्य हित में आवश्यक था? मैं रूबेन न्यायमूर्ति तथा एस. के. दास न्यायमूर्ति से सहमत हूँ कि ये परिस्थितियाँ भी स्पष्ट रूप से संकेत करती हैं कि संविधान सभा ने इस अधिनियम को लोक प्रयोजन द्वारा पर्याप्त रूप से समर्थित माना था। “लोक प्रयोजन” अभिव्यक्ति का संकीर्ण अर्थ ग्रहण करना, मेरे मत में, हमारे संविधान के सामान्य उद्देश्य तथा हाल के संशोधनों के विशिष्ट एवं तात्कालिक उद्देश्य को विफल कर देना होगा। हमें अपने मध्य-बीसवीं शताब्दी के संविधान को कार्यान्वित करने वाले किसी उपाय को उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक विचारों—जो व्यक्तिगत अधिकारों की पवित्रता अथवा अक्षुण्णता से प्रभावित हैं—के चश्मे से पढ़ना नहीं चाहिए। अतः मैं उच्च न्यायालय से सहमत हूँ कि आक्षेपित अधिनियम लोक प्रयोजन के लिए अधिनियमित किया गया था।

तत्पश्चात् श्री पी. आर. दास एक संकीर्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि यह मान भी लिया जाए कि जमींदारियों एवं भूधृतियों के अनिवार्य अधिग्रहण के लिए अधिनियम में एक सामान्य लोक प्रयोजन विद्यमान है, तथापि जहाँ तक अधिनियम किराया-बकायों के अधिग्रहण अथवा इस आडंबरपूर्ण आधार पर सकल परिसंपत्तियों के 4 से 12½ प्रतिशत तक के भाग को ले लेने का प्राधिकरण देता है कि भू-स्वामियों को अपनी सकल आय का वह प्रतिशत संपदा के रैयतों के हितार्थ कार्यों पर व्यय करने वाला माना जाना चाहिए, वहाँ तक अधिनियम के समर्थन में किसी लोक प्रयोजन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, और इसलिए अधिनियम का वह भाग बिहार विधायिका की विधायी क्षमता से परे है। मैं इस तर्क को एक से अधिक कारणों से असंगत मानता हूँ। प्रथम, जैसा कि मैं धारण करता हूँ, लोक प्रयोजन का अस्तित्व अनुच्छेद 31(2) का एक प्रावधान है; अतः किराया-बकायों के संबंध में उसका अभाव, यदि कोई हो भी, अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी के कारण अधिनियम के विरुद्ध आक्षेप का आधार नहीं बनाया जा सकता। द्वितीयतः, भूमि सुधार की किसी योजना में से किसी एक मद को पृथक् निकालकर यह कहना कि वह मद किसी लोक प्रयोजन द्वारा समर्थित नहीं है, पूर्णतः गलत दृष्टिकोण है। इसी प्रकार यह भी कहा जा

सकता है कि वनों अथवा खानों, विशेषकर अविकसित खानों, के अधिग्रहण में कोई लोक प्रयोजन नहीं है, क्योंकि ऐसा अधिग्रहण कृषिगत सुधार योजना से संबंधित नहीं है, इस अर्थ में कि वह भूमि की सतह जोतने वालों की दशा में कोई सुधार अथवा प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। मेरे विचार में, वस्तुओं को देखने का यह सही तरीका नहीं है। उचित दृष्टिकोण यह है कि योजना को समग्र रूप में देखा जाए और तत्पश्चात् यह परीक्षण किया जाए कि संपूर्ण अधिग्रहण-योजना लोक प्रयोजन के लिए है या नहीं। तृतीयतः, सकल परिसंपत्तियों के 4 से 12½ प्रतिशत तक की कटौती को मैं अधिग्रहण अथवा जब्ती बिल्कुल नहीं मानता, बल्कि ऊपर वर्णित कारणों से, मैं इसे अनुच्छेद 31(2) तथा सूची III की प्रविष्टि 42 द्वारा अपेक्षित प्रतिकर की राशि निर्धारित करने के उद्देश्य से अधिनियम द्वारा निर्धारित एक सिद्धांत का अंग मानता हूँ। अंततः, मैं यह नहीं देख पाता कि जमींदारियों के अधिग्रहण के संदर्भ में किराया-बकायों का अधिग्रहण लोक प्रयोजन के लिए क्यों नहीं माना जाना चाहिए। जैसा कि मैंने कहा है, जमींदारियों एवं भूधृतियों का अधिग्रहण कृषिगत सुधार लाने तथा काश्तकारों की दशा सुधारने की एक योजना है। इसका उद्देश्य, अन्य बातों के साथ-साथ, भूमि जोतने वालों को सीधे राज्य के संपर्क में लाना है, ताकि उन्हें लालची भू-स्वामियों के शिकंजे से मुक्त किया जा सके और वे राज्य को देय भुगतान के अधीन अपने भू-धारणों के स्वामी बन सकें। यह सर्वविदित है कि अधिकांश काश्तकार अपने किराये के बकायों में डूबे हुए हैं और एक बार जब किराया बकाये में परिवर्तित हो जाता है, तब काश्तकारों के लिए पुराने बकाये का कुछ भाग चुकाने के पश्चात् वर्तमान किराया देना कठिन हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप जहाँ वे पुराने बकाये का कुछ भाग समाप्त करते हैं, वहीं वर्तमान किराया पुनः बकाये में परिवर्तित हो जाता है। 22 जनवरी, 1951 को सत्यापित लक्ष्मण निधि के शपथपत्र के परिशिष्ट बी(2) के अनुसार, केवल दरभंगा एस्टेट के विभिन्न परिगणों में विभिन्न काश्तकारों द्वारा देय रैयती किराये की कुल राशि ही तीन लाख रुपये से अधिक होगी। यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि ये सभी बकाये वास्तव में उन वास्तविक रैयतों से देय हैं जो भूमि के वास्तविक जोतदार हैं। किन्तु वर्तमान प्रयोजनों के लिए तत्कालीन उच्चतर भूधृतिधारक अथवा जमींदार को भूधृतिधारकों द्वारा देय किराया-बकायों को विचार से पृथक् रखते हुए, यह सुरक्षित रूप से माना जा सकता है कि अधिकांश, यदि सभी नहीं, वास्तविक रैयत अथवा भूमि के वास्तविक जोतदार, अपनी दीर्घकालिक ऋणग्रस्तता से उत्पन्न वित्तीय कठिनाइयों के कारण, अपने भू-धारणों के किराये के संबंध में निरंतर एवं स्थायी रूप से बकायेदार रहते हैं। इन परिस्थितियों में यदि अधिनियम के अधीन केवल जमींदारियों एवं भूधृतियों का ही अधिग्रहण किया जाए और जमींदारों तथा भूधृतिधारकों को वास्तविक कृषक काश्तकारों से देय विशाल किराया-

बकायों की विधिक प्रक्रिया द्वारा वसूली करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, तो अंततः इससे वास्तविक काश्तकारों के भू-धारणों अथवा कम-से-कम उनमें उनके अधिकार, शीर्षक एवं हित की बिक्री हो जाएगी, तथा न्यायालयीय विक्रय में डिक्री के निष्पादन द्वारा अथवा काश्तकारों पर थोपे गए निजी विक्रयों द्वारा स्वयं जमींदारों अथवा भूधृतिधारकों द्वारा उनकी संभावित खरीद हो सकेगी। तब भूमि के वास्तविक जोतदारों का अधिकांश भाग भूमिहीन श्रमिकों में परिवर्तित हो जाएगा और अधिनियम में परिकल्पित संपूर्ण भूमि-सुधार योजना पूर्णतः निष्फल हो जाएगी। यदि, जैसा कि मैं मानता हूँ, जमींदारियों एवं भूधृतियों का अधिग्रहण वास्तविक काश्तकारों की आर्थिक एवं राजनीतिक दशा सुधारने के सुदृढ लोक प्रयोजन से प्रेरित अथवा निर्देशित है, तो वही लोक प्रयोजन किराया-बकायों के अधिग्रहण की भी अपेक्षा कर सकता है, ताकि उन अवांछनीय किन्तु अनिवार्य परिणामों को रोका जा सके जिनका मैंने उल्लेख किया है। बिहार विधायिका ने स्पष्टतः यह विचार किया कि बकायेदार काश्तकारों को विशाल बकायों के परिसमापन के संबंध में, भूमि आयोग के मार्गदर्शन में कार्य करने वाले राज्य से, अधिक अच्छा व्यवहार तथा अधिक युक्तियुक्त रियायत प्राप्त होगी, अपेक्षया उन अपदस्थ भू-स्वामियों से, जिनका अपने पूर्व काश्तकारों में एकमात्र शेष हित केवल यह रह जाएगा कि वे काश्तकारों से जितना संभव हो सके उतना बकाया, और वह भी यथासंभव कम समय में, बिना किसी दया अथवा रियायत के वसूल कर लें। इसी प्रकार की टिप्पणियाँ किराया-बकायों संबंधी डिक्रीयों के अधिग्रहण पर भी लागू होती हैं। कृषक रैयतों की दशा सुधारने के उस व्यापक लोक प्रयोजन ने विधायिका को यह प्रेरित किया होगा कि वह किराया-बकायों एवं किराया संबंधी डिक्रीयों को जमींदारों अथवा भूधृतिधारकों की अन्य सामान्य चल संपत्तियों, जैसे बैंक में जमा धनराशि अथवा उनके आभूषण एवं गहनों, जिनसे रैयतों का कोई संबंध नहीं है, से भिन्न रूप में माने और उनके अधिग्रहण का प्रावधान करे। इन परिस्थितियों में, श्री पी. आर. दास द्वारा अधिनियम के विरुद्ध उठाया गया दूसरा मुख्य आक्षेप-आधार अस्वीकार किया जाना चाहिए। तथापि, मैं यह स्वीकार करने में स्वतंत्र हूँ कि यदि मैं श्री पी. आर. दास से इस बात पर सहमत हो पाता कि आक्षेपित अधिनियम के ये प्रावधान लोक प्रयोजन के अभाव में दोषपूर्ण हैं, तो मुझे उनके इस आगे के तर्क का प्रतिरोध करना अत्यंत कठिन प्रतीत होता कि संपूर्ण अधिनियम ही दोषपूर्ण है; क्योंकि यह अनुमान लगाना सरल नहीं होता कि यदि बिहार विधायिका को यह ज्ञात होता कि अधिनियम के ये प्रावधान दोषपूर्ण ठहराए जा सकते हैं, तब भी वह अधिनियम के शेष भागों को इस अपूर्ण रूप में पारित करती। किराया-बकायों का अधिग्रहण मुझे इस योजना का अभिन्न अंग तथा उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में, यह भी संभव है कि बिहार

विधायिका ने यह समझा हो कि किराया-बकायों के अधिग्रहण के बिना कृषिगत सुधार की योजना का राज्य द्वारा सुगमता से कार्यान्वयन किया जाना संभव ही नहीं होगा। तथापि, चूँकि मैंने यह मत ग्रहण किया है कि लोक प्रयोजन के अभाव में अधिनियम का कोई भी भाग दोषपूर्ण नहीं है, इसलिए मुझे अधिनियम की पृथक्करणीयता के प्रश्न का और अधिक अनुसरण करने अथवा दोनों पक्षों के विद्वान अधिवक्ताओं द्वारा उद्धृत न्यायिक निर्णयों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

बिंदु सी के संबंध में: श्री पी. आर. दास का तीसरा बिंदु यह है कि यह अधिनियम संविधान पर एक छल है, अर्थात् जबकि यह स्वयं को संविधान के अनुरूप प्रदर्शित करता है, वस्तुतः यह उसका उल्लंघन करता है। उनके अनुसार, अधिनियम इस प्रकार संवैधानिक आवश्यकताओं का पालन करने का दिखावा करता है कि वह कुछ ऐसे सिद्धांत निर्धारित करने का प्रयत्न करता है जिनके आधार पर प्रतिकर निर्धारित किया जाना है तथा वह रूप और रीति भी बताता है जिनमें ऐसा प्रतिकर दिया जाना है, किन्तु वास्तव में वह प्रतिकर का भुगतान न करने की योजना निर्मित करता है। उनका तर्क है कि अधिनियम किराया-बकायों के पचास प्रतिशत भाग को प्रतिकर के रूप में लौटाने का दिखावा करता है, परन्तु वास्तविकता में शेष पचास प्रतिशत को बिना किसी प्रतिकर के जब्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त, सकल आय में से 4 से 12½ प्रतिशत की कटौती के बहाने राज्य वास्तव में इस शीर्ष के अंतर्गत एक बड़ी धनराशि अपने लिए अधिग्रहित कर रहा है। इन सब बातों से, उनका निष्कर्ष है कि यह निजी संपत्ति की जब्ती के लिए मात्र एक दिखावा, उपाय या युक्ति है। इस तर्क को, जब सम्यक् रूप से समझा जाए, तो यह बिहार विधायिका की इस अधिनियम को पारित करने की विधायी क्षमता पर ही आक्षेप के रूप में परिणत होता है। अंतिम विश्लेषण में इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि अधिनियम प्रतिकर देने का दिखावा करते हुए वास्तव में प्रतिकर देता ही नहीं। अधिनियम को दोषपूर्ण बनाने वाली बात न्यायोचित एवं पर्याप्त प्रतिकर के प्रावधान का अभाव है, क्योंकि श्री पी. आर. दास के अनुसार, सूची II की प्रविष्टि 36 तथा सूची III की प्रविष्टि 42 के अधीन विधायी शक्ति ऐसे प्रावधान के निर्माण की अपेक्षा करती है। विधायी शक्ति के प्रयोग के लिए इस संवैधानिक शर्त का अनुपालन न किया जाना प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। जब यह प्रत्यक्ष होता है, तब हम कहते हैं कि संविधान की आवश्यकताओं के अनुपालन के अभाव में विधि स्पष्टतः दोषपूर्ण है, अर्थात् वह *अधिकार-बाह्य* है। किन्तु जब यह अनुपालन-अभाव अप्रत्यक्ष होता है, तब हम कहते हैं कि यह संविधान पर छल है; और जिस छल की

शिकायत की जाती है, वह यह है कि विधायिका अपनी शक्ति के भीतर कार्य करने का दिखावा करती है जबकि वास्तव में वह ऐसा नहीं कर रही होती। अतः “संविधान पर छल” का आरोप, अंतिम विश्लेषण में, संविधान की शर्तों के अनुपालन न किए जाने की अवधारणा को व्यक्त करने का केवल एक अलंकारपूर्ण एवं सूक्तिपूर्ण तरीका मात्र है। किराया-बकायों के अधिग्रहण का उदाहरण लें। यह कहा जाता है कि अधिनियम में किराया-बकायों के अधिग्रहण का प्रावधान संविधान द्वारा प्रदत्त विधायी शक्ति पर एक छल है। मैं स्वयं से पूछता हूँ कि इसे छल क्यों कहा जाना चाहिए? मुझे संविधान में ऐसा कुछ नहीं मिलता जो यह कहता हो कि किराया-बकायों का अधिग्रहण नहीं किया जाना चाहिए, और इसलिए जो निषिद्ध नहीं है उसे करने के लिए किसी गुप्त प्रयास की आवश्यकता ही नहीं है। मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि अधिनियम में परिकल्पित भूमि-सुधार योजना में किराया-बकायों का अधिग्रहण, जमींदारियों एवं भूदृतियों के अधिग्रहण के साथ उचित रूप से किया जा सकता है। तब यह छल का सिद्धांत कहाँ आता है? इसका उत्तर अंततः यही होना चाहिए कि बकायों का आधा भाग बिना प्रतिकर के ले लिया जाता है। पुनः, आय-उत्पन्न न करने वाली संपत्तियों के अधिग्रहण का उदाहरण लें। मैं पूछता हूँ कि ऐसी संपत्ति का अधिग्रहण संविधान पर छल क्यों कहा जाता है? क्या संविधान ऐसी संपत्ति के अधिग्रहण को निषिद्ध करता है? स्पष्टतः नहीं। तब छल कहाँ है? मेरे मन में जो उत्तर आता है, वह यह है कि यह छल इसलिए कहा जाता है क्योंकि अधिनियम केवल आय के आधार पर प्रतिकर का प्रावधान करता है और इसलिए ऐसी संपत्तियाँ, जो वर्तमान में आय-उत्पन्न नहीं करतीं किन्तु जिनमें अत्यंत समृद्ध संभावनाएँ निहित हैं, बिना किसी प्रतिकर के ही अधिग्रहित कर ली जाती हैं। “रेयतों के हितार्थ कार्य” शीर्षक के अंतर्गत सकल परिसंपत्तियों के 4 से 12½ प्रतिशत की कटौती के संबंध में भी यही उत्तर स्पष्ट रूप से सामने आता है। अतः, अंतिम विश्लेषण में अधिनियम पर वास्तव में इस आधार पर आक्षेप किया जा रहा है कि वह वह कार्य करने में विफल रहता है जिसे संविधान द्वारा करना अपेक्षित है, अर्थात् संपत्तियों के अधिग्रहण के लिए प्रतिकर का प्रावधान करना, और इसलिए वह *अधिकार-बाह्य* है। मेरे मत में, यह वही तर्क है जो न्यायोचित प्रतिकर के अभाव के संबंध में प्रस्तुत किया गया था, केवल भिन्न रूप में तथा अधिक अलंकारपूर्ण एवं आकर्षक भाषा में व्यक्त किया गया है। मैं पहले ही श्री पी. आर. दास के प्रथम बिंदु पर विचार करते हुए न्यायोचित प्रतिकर के प्रावधान के अभाव के प्रश्न पर विचार कर चुका हूँ और मैं पुनः दोहराता हूँ कि प्रतिकर प्रदान करने का दायित्व सूची II की प्रविष्टि 36 में, अपने आप में अथवा सूची III की प्रविष्टि 42 के साथ पढ़े जाने पर, निहित नहीं है, बल्कि वह केवल अनुच्छेद 31(2) में निहित है; तथा सूची III की प्रविष्टि 42 के

अधीन अधिनियम ने प्रतिकर निर्धारित करने के लिए एक सिद्धांत निर्धारित किया है और इसलिए इन प्रविष्टियों में कथित रूप से निहित किसी अपेक्षित शर्त के अनुपालन न किए जाने के आधार पर विधायी अक्षमता का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि अधिनियम में निर्धारित वे सिद्धांत किसी विरल मामले में कोई प्रतिकर उत्पन्न नहीं करते अथवा कुछ मामलों में पर्याप्त प्रतिकर उत्पन्न नहीं करते, तो प्रतिकर का ऐसा अभाव अनुच्छेद 31(2) का उल्लंघन हो सकता है; किन्तु अनुच्छेद 31(4), 31-ए एवं 31-बी, और विशेष रूप से अनुच्छेद 31(4) में प्रयुक्त "इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी" शब्दों के कारण, उसे अधिनियम के विरुद्ध आक्षेप के आधार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, चाहे उस आधार को किसी भिन्न किन्तु आकर्षक भाषा में, अर्थात् "संविधान पर छल" के रूप में ही क्यों न व्यक्त किया जाए। तदनुसार, यह बिंदु भी अस्वीकार किया जाना चाहिए। तथापि, मैं पुनः दोहराता हूँ कि यदि मैं भिन्न मत ग्रहण करता, तब भी अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों की अपृथक्करणीयता के संबंध में वही कठिनाई मेरे समक्ष उपस्थित रहती, जिसका संकेत मैं पूर्व में कर चुका हूँ।

आधार घ. के संबंध में : श्री पी. आर. दास का चौथा बिंदु यह है कि अधिनियम प्रवर्तनीय नहीं है, क्योंकि धारा 32(2) प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान चालीस समान किशतों में करती है, किन्तु उन किशतों के बीच की अवधि का विनिर्देशन नहीं करती। तथापि, बहस के दौरान श्री पी. आर. दास ने इस बिंदु पर बल न देने का निर्णय उचित समझा और तदनुसार इसका कोई खंडन आवश्यक नहीं रह जाता।

आधार ई. के संबंध में : श्री पी. आर. दास का अंतिम मुख्य बिंदु यह है कि अधिनियम ने आवश्यक विधायी कृत्यों को कार्यपालिका सरकार को प्रत्यायोजित कर दिया है और इसलिए वह अवैध है। अनुच्छेद 31(2) यह अपेक्षा करता है कि लोक प्रयोजन के लिए भूमि के अधिग्रहण अथवा उसके कब्जे को अधिकृत करने वाली विधि, अधिगृहीत अथवा कब्जे में ली गई संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान करे और या तो प्रतिकर की राशि निर्धारित करे अथवा उन सिद्धांतों का विनिर्देशन करे जिनके आधार पर तथा जिस रीति से प्रतिकर निर्धारित एवं प्रदान किया जाना है। सूची III की प्रविष्टि 42 उन सिद्धांतों की बात करती है जिनके आधार पर प्रतिकर निर्धारित किया जाना है तथा उस रूप एवं रीति की, जिनमें ऐसा प्रतिकर प्रदान किया जाना है। तर्क यह है कि संविधान ने संसद अथवा राज्य विधानमंडल पर यह दायित्व छोड़ा है कि वे उन सिद्धांतों का विनिर्देशन करें जिनके आधार पर तथा जिस रूप एवं रीति से प्रतिकर निर्धारित एवं प्रदान किया जाना है; किन्तु बिहार

विधानमंडल ने अधिनियम की धारा 3(22) द्वारा केवल यह प्रावधान किया है कि प्रतिकर की राशि नकद में अथवा बांडों में अथवा आंशिक रूप से नकद एवं आंशिक रूप से बांडों में दी जाएगी, और यह कि बांड या तो परक्राम्य होंगे अथवा अपरक्राम्य एवं अहस्तांतरणीय होंगे तथा चालीस समान किशतों में देय होंगे, और उसने कोई निर्णायक प्रावधान निर्धारित नहीं किया है, बल्कि इस विषय को निर्णय के लिए राज्य सरकार पर छोड़ दिया है। अतः वह उस दायित्व के निर्वहन में विफल रही है जिसे स्पष्टतः उसके ज्ञान, बुद्धिमत्ता एवं देशभक्ति पर छोड़ा गया था। श्री पी. आर. दास की शिकायत है कि विधानमंडल ने अपनी जिम्मेदारी से बचते हुए इस आवश्यक विधायी शक्ति को राज्य सरकार को प्रत्यायोजित कर दिया है, जिसे वह धारा 43(2)(प) के अधीन अपनी नियम-निर्माण शक्ति के अंतर्गत बनाए गए नियमों द्वारा प्रयोग करेगी। विधायी शक्ति के प्रत्यायोजन की उपयुक्तता एवं वैधता के प्रश्न पर इस न्यायालय ने हाल ही में *दिल्ली विधि अधिनियम के संबंध, 1912*⁽¹⁾ में विचार किया है। यदि मैं इस विषय पर अपने स्वयं के विचारों के अनुसार विचार करता, तो मैं इस तर्क को प्रारम्भ में ही अस्वीकार कर देता, क्योंकि यहाँ विधानमंडल ने उस अर्थ में, जैसा कि मैंने उस मामले में अपने मत में स्पष्ट किया है, स्वयं को त्याग या विलुप्त नहीं किया है। किन्तु जब मैं इस विषय को उस मामले में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश तथा मेरे विद्वान सहन्यायाधीशों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर देखता हूँ, जिनका श्री पी. आर. दास ने उल्लेख किया है, तब भी मुझे उनके इस तर्क को अस्वीकार करना पड़ता है। यहाँ धारा 32 स्पष्ट रूप से यह दर्शाती है कि विधानमंडल ने इस समस्या पर अपना मस्तिष्क लगाया है और उसने यह सिद्धांत निर्धारित किया है कि प्रतिकर का भुगतान नकद में अथवा बांडों में अथवा आंशिक रूप से नकद एवं आंशिक रूप से बांडों में किया जा सकता है, और यदि भुगतान पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से बांडों में किया जाना है, तो वे बांड या तो परक्राम्य होंगे अथवा अपरक्राम्य एवं अहस्तांतरणीय होंगे। विधानमंडल ने सिद्धांत निर्धारित करने के पश्चात्, धारा 43(3)(प) के अधीन बनाए गए नियम द्वारा, यह विषय कार्यपालिका पर छोड़ दिया है कि प्रतिकर किस अनुपात में नकद एवं बांडों में देय होगा तथा प्रतिकर के ऐसे भुगतान की रीति क्या होगी। यह ध्यान देने योग्य है कि ये विवरण विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, जैसे सरकार की भुगतान करने की क्षमता की सीमा, भू-स्वामियों की आवश्यकताओं की सीमा तथा अनेक अन्य विचारणीय तत्व, जिनसे कार्यपालिका सरकार स्वयं विधानमंडल की अपेक्षा अधिक परिचित होगी। मैं श्री पी. आर. दास के इस तर्क को स्वीकार करने में असमर्थ

(1) [1951] एस.सी.आर 747

हूँ कि यह मेरे विद्वान सहन्यायाधीशों के निर्णय के अर्थ में किसी आवश्यक विधायी कृत्य के प्रत्यायोजन के समान है।

श्री संजीव चौधुरी ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि चूँकि भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 संविधान द्वारा प्रवर्तित रखा गया था तथा वह अधिनियम, जो एक केंद्रीय अधिनियम है, 1899 की अधिसूचना द्वारा रामगढ़ राज्य, जिसकी ओर से वे उपस्थित हैं, पर विस्तारित किया गया था, इसलिए जब तक वह अधिसूचना वापस नहीं ली जाती, केंद्रीय अधिनियम रामगढ़ पर लागू रहना चाहिए और आक्षेपित अधिनियम प्रतिकर के निर्धारण के लिए लागू नहीं हो सकता, क्योंकि यह क्षेत्र पहले से ही 1894 के केंद्रीय अधिनियम द्वारा आच्छादित है। तथापि, यह ध्यान देने योग्य है कि उस अधिनियम में प्रतिकर संबंधी प्रावधान केवल उसी अधिनियम के अधीन अधिगृहीत भूमियों पर लागू होता है। उसका अन्य विधियों के अधीन अधिगृहीत भूमियों पर कोई अनुप्रयोग नहीं है और इसलिए भूमि अर्जन अधिनियम के प्रतिकर संबंधी प्रावधान बिहार अधिनियम के अधीन किए गए अधिग्रहणों पर लागू नहीं हो सकते; फलतः अधिग्रहित क्षेत्र का सिद्धांत यहाँ किसी प्रकार लागू नहीं हो सकता। मेरे मत में इस तर्क में कोई सार नहीं है।

उपरोक्त कारणों से, मैं इन अपीलों को स्वीकार करता हूँ।

चन्द्रशेखर अय्यर, न्यायमूर्ति—इन मामलों को उत्पन्न करने वाले तथ्यों का पूर्ण विवरण मेरे विद्वान भाई महाजन न्यायमूर्ति द्वारा अभी-अभी दिए गए निर्णय में किया जा चुका है और उन्हें पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है। उनके तथा मुखर्जी न्यायमूर्ति द्वारा प्राप्त निष्कर्षों से मैं सहमत हूँ। सामान्यतः, मैं केवल अपनी सहमति व्यक्त करके ही रुक जाता, किन्तु विचारित प्रश्नों के महत्व तथा उनसे जुड़े हितों को दृष्टिगत रखते हुए, मैं विचार किए गए कुछ बिंदुओं पर अपने कुछ शब्द और जोड़ना चाहता हूँ।

हमारे संविधान का अनुच्छेद 31(1) यह उपबंध करता है कि — “किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि के प्राधिकार के बिना वंचित नहीं किया जाएगा।”

वंचन के तीन प्रकार हैं—(क) विनाश, (ख) अधिग्रहण तथा (ग) अधियाचन। विनाश लोक स्वास्थ्य के हित में अथवा जीवन या संपत्ति के संकट की रोकथाम के लिए किया जा सकता है, किन्तु वर्तमान में हम उससे संबंधित नहीं हैं। “अधिग्रहण” के मामले में स्थायित्व का तत्व विद्यमान रहता है, जबकि “अधियाचन” के मामले में अस्थायित्व का तत्व होता है।

इस भेद को छोड़कर, राज्य के अधिकारों तथा निजी नागरिकों के अधिकारों के पारस्परिक संबंध के दृष्टिकोण से, दोनों प्रकार समान आधार पर स्थित हैं।

संविधान के अधीन, जब संपत्ति का अधियाचन अथवा अधिग्रहण किया जाता है, तब वह संघ के प्रयोजन के लिए, अथवा राज्य के प्रयोजन के लिए, अथवा किसी अन्य लोक प्रयोजन के लिए हो सकता है। संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची I (संघ सूची) की प्रविष्टि 33 संघ के प्रयोजनों के लिए संपत्ति के अधिग्रहण अथवा अधियाचन का उल्लेख करती है। जब हम सूची III (समवर्ती सूची) की प्रविष्टि 42 पर आते हैं, तब हमें ये शब्द प्राप्त होते हैं : “संघ अथवा किसी राज्य के प्रयोजनों के लिए अथवा किसी अन्य लोक प्रयोजन के लिए अधिगृहीत अथवा अधियाचित संपत्ति के लिए प्रतिकर किन सिद्धांतों के आधार पर निर्धारित किया जाएगा तथा ऐसा प्रतिकर किस रूप में और किस रीति से दिया जाएगा।”

प्राचीन काल से ही विधि ने यह मान्यता दी है कि सरकार को लोक प्रयोजन के लिए व्यक्तियों की निजी संपत्तियों का अनिवार्य अधिग्रहण करने का अधिकार है और यही सिद्धांत “प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण” के विधि-सिद्धांत के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। किन्तु यह सार्वभौमिक विधि का सिद्धांत है कि ऐसा अधिग्रहण केवल न्यायोचित प्रतिकर के भुगतान पर ही किया जा सकता है। *संविधान पर कहानी*, खंड 2, पृष्ठ 534, अनुच्छेद 1790 में, अमेरिकी संविधान के पाँचवें संशोधन के अंतिम खंड की चर्चा करते हुए, निम्नलिखित अंश दिया गया है :-

“अंतिम खंड यह है कि निजी संपत्ति को न्यायोचित प्रतिकर के बिना लोक उपयोग के लिए अधिगृहीत नहीं किया जाएगा। यह निजी संपत्ति के संरक्षण के लिए सामान्य विधि द्वारा स्थापित एक महान सिद्धांत की पुष्टि है। इसका आधार प्राकृतिक न्यायसंगति में निहित है और विधिशास्त्रियों ने इसे सार्वभौमिक विधि के सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया है। वास्तव में, एक स्वतंत्र शासन व्यवस्था में, यदि सरकार प्रत्येक नागरिक की निजी संपत्ति पर अनियंत्रित शक्ति रखती हो, तो अन्य सभी अधिकार लगभग पूर्णतः निरर्थक हो जाएंगे। प्रत्येक उत्तम शासन का एक मूल उद्देश्य न्याय का समुचित प्रशासन होना चाहिए; और जब समस्त संपत्ति विधानमंडल तथा शासकों की इच्छा अथवा मनमानी के अधीन हो, तब ऐसे प्रशासन की चर्चा करना कितना व्यर्थ होगा।”

प्रतिकर का भुगतान अधिग्रहण की शक्ति के वैध प्रयोग का एक अनिवार्य तत्व है। प्रसिद्ध वाद अटॉर्नी-जनरल बनाम डी कीज़र रॉयल होटल लिमिटेड⁽¹⁾ में लॉर्ड ड्यूनेडिन ने

(1) [1920] ए.सी. पी. 508

प्रतिकर के भुगतान को संपत्ति के अधिग्रहण का एक आवश्यक सहगामी बताया था। बोवेन एल. न्यायमूर्ति ने *लंदन एंड नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे कंपनी बनाम इवांस*⁽²⁾ में कहा था :-

“यह उचित रूप से नहीं माना जा सकता कि विधानमंडल, जब तक कि ऐसे आशय को प्रदर्शित करने वाले स्पष्ट शब्द न हों, यह अभिप्रेत करता है कि किसी व्यक्ति की संपत्ति को अन्य व्यक्तियों अथवा जनता के लाभ के लिए बिना किसी प्रतिकर के जब्त कर लिया जाए, जबकि वह संपत्ति उससे अनिवार्य रूप से ली जा रही हो। संसद अपनी सर्वशक्तिमत्ता में निस्संदेह इस सामान्य सिद्धांत को अधिलंघित अथवा उपेक्षित कर सकती है, यदि वह ऐसा करना उचित समझे; किन्तु यह संभावना नहीं है कि वह इस सिद्धांत की उपेक्षा करेगी, जब तक कि ऐसे उद्देश्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति न की गई हो।”

यह सिद्धांत हमारे संविधान के अनुच्छेद 31(2) में निम्नलिखित शब्दों में समाहित किया गया है :-

“किसी भी संपत्ति, चाहे वह जंगम हो या स्थावर, जिसमें किसी वाणिज्यिक अथवा औद्योगिक उपक्रम के स्वामित्व वाली किसी कंपनी में कोई हित भी सम्मिलित हो, को किसी लोक प्रयोजन के लिए, ऐसे अधिनियम के अधीन जो ऐसे अधिग्रहण अथवा कब्जा लेने को अधिकृत करता हो, तब तक अधिगृहीत अथवा उसके कब्जे में नहीं लिया जाएगा, जब तक कि वह अधिनियम अधिगृहीत अथवा कब्जे में ली गई संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान न करे तथा या तो प्रतिकर की राशि निर्धारित न करे अथवा उन सिद्धांतों तथा उस रीति का विनिर्देशन न करे जिनके आधार पर और जिस प्रकार प्रतिकर निर्धारित एवं प्रदान किया जाना है।”

हम यहाँ इस अनुच्छेद के उपखंड (3) एवं (4) तथा संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951, दिनांक 18-6-1951 द्वारा संशोधन के रूप में जोड़े गए अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी से स्वयं को अभी संबंधित नहीं करेंगे। उन पर आगे विचार किया जाएगा।

श्री पी. आर. दास का यह तर्क कि राज्य द्वारा संपत्तियों के अनिवार्य अधिग्रहण के साथ प्रतिकर का भुगतान एक सहगामी दायित्व है, उचित रूप से स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु जब वे इससे आगे बढ़कर यह प्रतिपादित करने लगे कि यह दायित्व समवर्ती सूची की प्रविष्टि 42 में निहित रूप से पाया जाता है, तब वे किसी प्रकार भी सुनिश्चित आधार पर नहीं थे। प्रविष्टियाँ हमें केवल विधायन के सामान्य शीर्ष प्रदान करती हैं। विधायन के क्षेत्र,

(2) [1893] 1 अध्याय पृष्ठ 16 & 28.

विस्तार अथवा परिमाण तथा उससे उत्पन्न अधिकारों एवं कर्तव्यों का निर्धारण करने के लिए हमें स्वयं उस विधि का परीक्षण करना होगा अथवा विधि एवं न्यायशास्त्र के सामान्य एवं सुविख्यात सिद्धांतों का आश्रय लेना होगा। जब किसी विषय पर विधि स्वयं स्पष्ट प्रावधान करती हो, तब किसी निहित अथवा गुप्त तत्व का सहारा नहीं लिया जा सकता। चूँकि लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अधिग्रहण पर न्यायोचित प्रतिकर का भुगतान किया जाना आवश्यक है, इसलिए विधायन को प्रतिकर निर्धारण के सिद्धांतों तथा उस रूप एवं रीति का विनिर्देशन करना होता है जिसमें वह प्रदान किया जाएगा। प्रविष्टि 42 का अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि वह इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विधानमंडल को प्रदत्त एक शक्ति है। शक्ति प्रदान की गई है, किन्तु प्रतिकर प्रदान करने का कोई दायित्व अधिरोपित नहीं किया गया है। इस कथन के समर्थन हेतु कि लोक प्रयोजन के लिए संपत्ति के अधिग्रहण की एक मूलभूत शर्त प्रतिकर का भुगतान है, हमें स्वयं संविधान के प्रावधानों की ओर देखना होगा, और जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, यह हमें अनुच्छेद 31(2) में प्राप्त होता है। श्री दास को यह अस्थिर एवं असंगत स्थिति ग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि प्रविष्टि 42 अपनी स्वयं की शक्ति से प्रतिकर भुगतान का दायित्व निहित करती है, क्योंकि अन्यथा वे अनुच्छेद 31 के उपखंड (3) एवं (4) तथा नवप्रविष्टि अनुच्छेद 31-ए एवं 31-बी द्वारा उनके मार्ग में उत्पन्न बाधाओं को पार नहीं कर सकते थे।

विद्वान महाधिवक्ता ने प्रविष्टि 42 पर विचार करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि प्रविष्टि 42 के अधीन किया गया विधायन ऐसे सिद्धांत भी निर्धारित कर सकता है जिनसे किसी प्रतिकर का भुगतान ही न हो, और अपने समर्थन में उन्होंने *अतीका बेगम का मामला*⁽¹⁾ का उल्लेख किया। यह तर्क मुझे उतना ही असंगत प्रतीत होता है जितना श्री दास का यह तर्क कि प्रतिकर का भुगतान अथवा प्रदान करने का दायित्व उक्त प्रविष्टि में निहित था। चूँकि प्रतिकर के बिना अधिग्रहण हो ही नहीं सकता, इसलिए प्रविष्टि 42 के शब्द विधानमंडल को यह शक्ति प्रदान करते हैं कि वह सिद्धांत निर्धारित करे तथा प्रतिकर के भुगतान के रूप एवं रीति का प्रावधान करे। यदि सिद्धांत इस प्रकार निर्मित किए जाएँ कि उनका परिणाम पूर्णतः प्रतिकर के अभाव में निकले, तब विधानमंडल न केवल गुप्त रूप से, बल्कि प्रत्यक्षतः विधि का परिहार कर रहा होगा। *अतीका बेगम का मामला* में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस तर्क का समर्थन करता हो। वहाँ यह निर्णय दिया गया था कि "किराये के भुगतान" शीर्षक के अधीन ऐसा विधायन किया जा सकता है जो किराये में छूट का प्रावधान करे। प्रत्येक भूधृति के लिए किराये का भुगतान कोई सार्वभौमिक विधिक दायित्व नहीं है

(1) [1940] एफ.सी.आर. 110.

और विधानमंडल यह अधिनियमित कर सकता है कि कुछ परिस्थितियों अथवा दशाओं में किराये में छूट दी जाएगी। किन्तु जहाँ तक राज्य द्वारा अधिग्रहण के प्रतिकर का प्रश्न है, उसका भुगतान विधि द्वारा सार्वभौमिक रूप से मान्य एक मूलभूत आवश्यकता है। उद्धृत वाद को लागू करते समय स्मरण रखने योग्य यही मूलभूत भेद है। प्रविष्टि 42 के अंतिम शब्द —“वह रूप एवं रीति जिनमें ऐसा प्रतिकर दिया जाएगा”—स्पष्ट रूप से यह अभिप्रेत करते हैं कि प्रतिकर निर्धारित करने वाले सिद्धांतों का परिणाम किसी न किसी प्रतिकर के प्रदान अथवा भुगतान में होना चाहिए। ऐसे सिद्धांतों की उद्धोषणा द्वारा, जिनका परिणाम प्रतिकर का पूर्ण निषेध हो, प्रतिकर को पूर्णतः नकार देना, प्रविष्टि के स्पष्ट शब्दों का ही विरोध करना होगा, और ऐसा अर्थ सूचियों के निर्माताओं के प्रति आरोपित नहीं किया जा सकता।

तथापि, इससे श्री पी. आर. दास को सफलता के निकट भी नहीं पहुँचाया जा सकता। अनुच्छेद 31(4) उनके मार्ग में प्रथम बाधा के रूप में उपस्थित होता है। वह यह उपबंध करता है :-

“यदि इस संविधान के प्रारंभ के समय किसी राज्य की विधानमंडल में लंबित कोई विधेयक, उस विधानमंडल द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया हो और उसे उनकी स्वीकृति प्राप्त हो गई हो, तब, इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, उस प्रकार स्वीकृत विधि को किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह खंड (2) के प्रावधानों का उल्लंघन करती है।”

वह विधेयक, जो बाद में “बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950” बना, संविधान के प्रारंभ के समय राज्य की विधानमंडल में लंबित था, और विधानमंडल द्वारा पारित किए जाने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखा गया तथा उनकी स्वीकृति प्राप्त हुई। अतः यह निषेध लागू हो जाता है कि उसे किसी न्यायालय में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह खंड (2) के प्रावधानों का उल्लंघन करता है। यह सत्य है कि अनुच्छेद के उपखंड (2) के कारण प्रतिकर का प्रावधान किया जाना आवश्यक है, किन्तु उपखंड (4) एक अपवाद की परिकल्पना करता है और इस आधार पर अधिनियम की वैधता को चुनौती देने का अधिकार कि कोई प्रतिकर प्रदान नहीं किया गया है अथवा प्रतिकर वास्तव में मायावी अथवा अपर्याप्त है, समाप्त कर दिया गया है। मानो यह पर्याप्त न हो, उनके मार्ग में संशोधन द्वारा जोड़े गए दो और अवरोध उपस्थित कर दिए गए हैं, और वे हैं नवप्रविष्ट अनुच्छेद 31-ए तथा 31-बी। अनुच्छेद 31-ए का उपखंड (1) निम्नलिखित शब्दों में है :-

“इस भाग के पूर्ववर्ती प्रावधानों में किसी बात के होते हुए भी, राज्य द्वारा किसी सम्पदा अथवा उसमें निहित किसी अधिकार के अधिग्रहण के लिए अथवा ऐसे किसी अधिकार के उन्मूलन या संशोधन के लिए उपबंध करने वाली कोई विधि केवल इस आधार पर शून्य नहीं मानी जाएगी कि वह इस भाग के किसी प्रावधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के साथ असंगत है अथवा उन्हें समाप्त करती है या संकुचित करती है :”

“परन्तु जहाँ ऐसी विधि किसी राज्य की विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि हो, वहाँ इस अनुच्छेद के प्रावधान उस पर तब तक लागू नहीं होंगे जब तक कि ऐसी विधि, राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखे जाने के पश्चात्, उनकी स्वीकृति प्राप्त न कर ले।”

अनुच्छेद 31-बी यह उपबंध करता है :-

“कुछ अधिनियमों एवं विनियमों का विधिमान्यकरण : — अनुच्छेद 31-ए में निहित प्रावधानों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, नवम अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी भी अधिनियम अथवा विनियम अथवा उनके किसी भी प्रावधान को केवल इस आधार पर शून्य नहीं माना जाएगा, अथवा ऐसा नहीं माना जाएगा कि वह कभी शून्य हो गया था, कि ऐसा अधिनियम, विनियम अथवा प्रावधान इस भाग द्वारा प्रदत्त किसी अधिकार के साथ असंगत है अथवा उसे समाप्त करता है या संकुचित करता है; और किसी न्यायालय अथवा अधिकरण के किसी विपरीत निर्णय, डिक्री अथवा आदेश के होते हुए भी, उक्त प्रत्येक अधिनियम एवं विनियम, किसी सक्षम विधानमंडल की उसे निरस्त अथवा संशोधित करने की शक्ति के अधीन रहते हुए, प्रभावी बना रहेगा।”

जब हम संशोधन अधिनियम की नवम अनुसूची की ओर देखते हैं, तो उसमें उल्लिखित प्रथम प्रविष्टि ही “बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950” है।

इन लगभग दुर्जेय बाधाओं के समक्ष, श्री पी. आर. दास ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि यदि वे न्यायालय को अपने मुख्य तर्क पर आश्रित करने में सफल नहीं होते— अर्थात् कि वे आक्षेपित अधिनियम को संविधान के भाग III में उल्लिखित आधारों के अतिरिक्त अन्य आधारों पर चुनौती दे सकते हैं, तथा राज्य सूची की प्रविष्टि संख्या 36 और समवर्ती सूची की प्रविष्टि संख्या 42 को संयुक्त रूप से पढ़ने पर उनमें कुछ ऐसा निहित है जो राज्य विधानमंडल पर न्यायोचित अथवा उचित प्रतिकर के भुगतान का प्रावधान करने का दायित्व अधिरोपित करता है, और इस दायित्व के पालन न किए जाने से उन्हें अधिनियम की वैधता को असंवैधानिक बताकर चुनौती देने का अधिकार प्राप्त होता है—तो वे अधिनियम

में प्रदत्त प्रतिकर की पर्याप्तता अथवा उसके मायावी स्वरूप के संबंध में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकते थे।

संपत्ति का अधिग्रहण केवल लोक प्रयोजन के लिए ही किया जा सकता है। भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894 के अधीन, सरकार द्वारा यह घोषणा कि भूमि की आवश्यकता है, इस बात का निर्णायक प्रमाण मानी जाती है कि भूमि वास्तव में आवश्यक है, और न्यायालय इस प्रश्न की जाँच नहीं कर सकते कि लोक प्रयोजन सिद्ध हुआ है अथवा नहीं। जिन संवैधानिक प्रावधानों से हमें यहाँ सरोकार है, उनमें ऐसा कोई उपबंध नहीं है। यह सत्य है कि अनुच्छेद 31 के उपखंड (2) में संपत्ति के लोक प्रयोजनों के लिए अधिग्रहित किए जाने का उल्लेख है। अनुच्छेद 31 के उपखंड (4) द्वारा निर्मित निषेध, खंड (2) के प्रावधानों के उल्लंघन से संबंधित है। खंड (2) का प्रावधान केवल प्रतिकर के संबंध में है, जैसा कि उसके अंतिम भाग से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है :-

“जब तक कि विधि, अधिग्रहीत अथवा कब्जे में ली गई संपत्ति के लिए प्रतिकर का प्रावधान न करे तथा या तो प्रतिकर की राशि निर्धारित न करे अथवा उन सिद्धांतों तथा उस रीति का विनिर्देशन न करे जिनके आधार पर और जिस प्रकार प्रतिकर निर्धारित एवं प्रदान किया जाना है।”

यह उचित रूप से मान लिया गया है कि लोक प्रयोजन का अस्तित्व विधि का अभिन्न अंग है तथा उसमें अंतर्निहित है। लोक प्रयोजन का अस्तित्व अनुच्छेद 31(2) द्वारा अधिग्रहण की शक्ति के प्रयोग पर अधिरोपित कोई प्रावधान अथवा शर्त नहीं है। जो शर्त विनिर्दिष्ट की गई है, वह केवल प्रतिकर के संबंध में है। अनुच्छेद 31(4) इस आधार पर किसी अधिनियम की संवैधानिकता को चुनौती देने से रोकता है, किन्तु किसी अन्य आधार पर नहीं। मेरे मत में, यह प्रश्न कि वास्तव में कोई लोक प्रयोजन है भी या नहीं, अथवा जो प्रयोजन बताया गया है वह वास्तव में लोक प्रयोजन है या नहीं, न्यायिक परीक्षण अथवा पुनर्विलोकन के लिए खुला है।

जब विधानमंडल यह घोषित करता है कि विधायन के पीछे एक लोक प्रयोजन विद्यमान है, तब निःसंदेह हमें उसके शब्दों का सम्मान करना होता है। विचाराधीन अधिनियम का उद्देश्य जमींदारों, स्वामियों, सम्पदा एवं भूधृति-धारकों जैसे मध्यवर्तियों के हितों का उन्मूलन करना तथा वास्तविक कृषकों को राज्य सरकार के साथ प्रत्यक्ष संबंध में लाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार की संपत्तियों के संबंध में ऐसे हितों के राज्य में अंतरण एवं निहित होने के अनेक प्रावधान अधिनियमित किए गए हैं। यह

अस्वीकार करना असंभव है कि यह अधिनियम लोक प्रयोजन से प्रेरित एवं उसी से संचालित है; किन्तु प्रश्न फिर भी बना रहता है कि क्या विशिष्ट मदों के अधिग्रहण को लोक प्रयोजन के लिए कहा जा सकता है। इसी संदर्भ में अधिनियम की धारा 4, खंड (ब) में उल्लिखित “किराया-बकाया” तथा धारा 23, खंड (फ) में उल्लिखित “रैयतों के हितार्थ कार्यों की लागत” इन दो मदों पर विचार किया जाना आवश्यक है।

“किराया-बकायों” का अधिग्रहण भूमि-सुधार के किसी प्रश्न से दूरस्थ रूप से भी संबंधित प्रतीत नहीं होता। इसकी स्थिति उससे किसी प्रकार बेहतर नहीं है मानो अधिनियम जमींदारों, स्वामियों अथवा भूधृति-धारकों के पास उपलब्ध नकद धन अथवा बैंकों में जमा उनकी राशि का अधिग्रहण करना चाहता हो। यह मात्र एक संयोग है कि विचाराधीन किराया अधिनियम के पारित होने से पूर्व वसूल नहीं किया गया था। चाहे वह वसूल किया गया हो या नहीं, वह धन उन्हीं का है, जो रैयतों द्वारा उन्हें देय एवं भुगतान योग्य है। सम्पदाओं के राज्य में निहित होने के परिणामों का उन भूधृतियों से कुछ संबंध होना चाहिए तथा उनमें, चाहे वह कितना ही दूरस्थ क्यों न हो, किए गए अथवा परिकल्पित कृषिगत सुधारों से कुछ संबंध अवश्य होना चाहिए। मान लें कि कोई विधि यह उपबंध करे कि चूँकि लगान-संग्रहकर्ताओं एवं राजस्व-कृषकों को समाप्त करना तथा भूमि को भूमि के वास्तविक कृषकों के बीच न्यायसंगत आधार पर विभाजित एवं वितरित करना आवश्यक है, और उन्हें स्थायी अधिभोग के अधिकार प्रदान करने के साथ-साथ उन्हें सीधे राज्य के संपर्क में लाना भी आवश्यक है, इसलिए अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व तीन वर्षों के दौरान स्वामियों द्वारा अपनी सम्पदाओं से किराये के रूप में जो भी धन संग्रहित किया गया हो, वह राज्य में निहित होगा तथा राज्य को देय होगा—तो क्या किसी भी प्रकार के तर्क-विस्तार द्वारा यह कहा जा सकता है कि उस धन के अधिग्रहण के लिए कोई लोक प्रयोजन सिद्ध किया गया है? किराया-बकायों की स्थिति इससे किसी प्रकार बेहतर नहीं है। उनके अधिग्रहण में किसी लोक प्रयोजन का अस्तित्व स्पष्टतः अनुपस्थित है। यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि इन बकायों का सहारा या तो राज्य के वित्तीय संसाधनों को बढ़ाने के लिए लिया गया था अथवा अधिग्रहण की इसी विशेष मद से छोटे स्वामियों को प्रतिकर देने के लिए। राज्य, प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण की शक्ति के अधीन, केवल अपने राजस्व में वृद्धि करने के उद्देश्य से व्यक्तियों की संपत्ति का अधिग्रहण नहीं कर सकता; इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कराधान ही मान्य एवं स्वीकृत माध्यम है। यदि दूसरा ही वास्तविक उद्देश्य था, तो यह ध्यान देने योग्य है कि सरकार के दायित्वों की

पूर्ति के लिए किसी एक व्यक्ति की संपत्ति को अनिवार्य रूप से लेकर दूसरे को दे देना, अधिग्रहण की शक्ति का वैध एवं अनुमेय प्रयोग नहीं है।

निस्संदेह धारा 24 के उपखंड (1) में यह प्रावधान किया गया है कि किराया-बकायों का 50 प्रतिशत प्रतिकर की राशि में जोड़ा जाएगा। इसका अर्थ दो में से एक ही हो सकता है—(क) या तो शेष 50 प्रतिशत बिना किसी प्रतिकर के ले लिया जाता है, जो वस्तुतः जब्ती के समान है; अथवा (ख) 50 प्रतिशत को बकाया किरायों के समेकित मूल्य के रूप में, अर्थात् दावा योग्य अधिकार अथवा वादयोग्य दावों के अधिग्रहण के लिए एकमुश्त भुगतान के रूप में लिया जाता है। दोनों ही दृष्टियों से यह समझना कठिन है कि इसमें लोक प्रयोजन कहाँ निहित है। क्या धनराशि का स्वयं किसी राज्य द्वारा अनिवार्य अधिग्रहण किया जा सकता है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। विलिस का संवैधानिक विधि के पृष्ठ 816 पर विलिस कहते हैं :- “यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामान्यतः प्रत्येक प्रकार की संपत्ति प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण की शक्ति के अधीन होती है, तथापि निजी संपत्ति के कुछ असामान्य प्रकार ऐसे हैं जिन्हें इस प्रकार अधिगृहीत नहीं किया जा सकता।” “इनमें शव, धनराशि, दावा योग्य अधिकार, सरकार द्वारा अपनी शासकीय क्षमता में प्रयुक्त संपत्ति, केवल प्रतिस्थापित स्वामित्व के लिए प्रयुक्त की जाने वाली संपत्ति—जब तक कि ऐसा प्रतिस्थापित स्वामित्व अधिक आवश्यक उपयोग न हो—और संभवतः किसी राज्य को समर्पित न्यास-संपत्ति, बंधक-अधिकार तथा स्वत्व-निर्धारण संबंधी वाद सम्मिलित हैं।” “कौन-सी संपत्ति इस अधिकार के अधीन है” शीर्षक के अंतर्गत, कूली की संवैधानिक सीमाएँ के खंड II, पृष्ठ 1117 पर कूली लिखते हैं :-

“तथापि, इस कथन से धनराशि, अथवा वह वस्तु जो सामान्य व्यवहार में धन के रूप में प्रयुक्त होती है और जिसे सरकार कराधान द्वारा प्राप्त कर सकती है, तथा वादगत अधिकार, जो केवल धन उत्पन्न करने पर ही उपयोगी हो सकते हैं—इन दोनों को अपवादस्वरूप बाहर रखना होगा; क्योंकि इनमें से किसी को भी इस शक्ति के अधीन लेना आवश्यक नहीं हो सकता।” पाद-टिप्पणी में वे आगे इंगित करते हैं :-

“प्रभुतासंपन्न अधिग्रहण के अधिकार के अधीन धनराशि का अधिग्रहण, जबकि उसके पश्चात् उसी का प्रतिकर धनराशि में ही देना पड़े, वस्तुतः एक बाध्य ऋण से अधिक या कम कुछ नहीं हो सकता, और इसे केवल अंतिम उपाय के रूप में, अत्यंत संकट के समय, तब ही उचित ठहराया जा सकता है जब न तो सरकार की साख और न ही कराधान की शक्ति उपलब्ध कराई जा सके।”

एमिनेंट डोमेन पर निकोल्स में निकोल्स इस मत से असहमत नहीं हैं; इसके विपरीत, वे खंड 1 के पृष्ठ 100, अनुच्छेद 2.1(3) पर कहते हैं :-

“यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि क्या धनराशि का अधिग्रहण प्रख्यात अनुक्षेत्र के अधीन किया जा सकता है, और यह निर्णय दिया गया है अथवा कम-से-कम संकेत किया गया है कि, कम से कम जहाँ तक किसी राज्य अथवा निजी निगम का संबंध है, वह इस प्रकार के अधिग्रहण के अधीन नहीं है। आपत्ति सरकार की शक्ति पर किसी निहित अंतर्निहित सीमा पर आधारित नहीं है, बल्कि इस कठिनाई पर आधारित है कि धनराशि का ऐसा अधिग्रहण कैसे किया जाए जो संविधान का उल्लंघन किए बिना जनता के लिए किसी उपयोग का हो सके। जिस प्रयोजन के लिए धन की आवश्यकता हो, वह निस्संदेह लोक प्रयोजन हो सकता है; किन्तु चूँकि प्रतिकर धनराशि में ही दिया जाना आवश्यक है, और यदि अग्रिम रूप से नहीं, तो कम-से-कम यथासंभव शीघ्रता से, इसलिए प्रतिकर के बिना धनराशि की जब्ती, अथवा नोटों, बांडों अथवा वस्तुओं में भुगतान का प्रस्ताव—अर्थात् बाध्य विक्रय अथवा बाध्य ऋण—चाहे अत्यंत आवश्यकता द्वारा कितना ही उचित क्यों न ठहराया जाए, प्रख्यात अनुक्षेत्र की शक्ति का संवैधानिक प्रयोग नहीं होगा।”

विद्वान महाधिवक्ता ने इस अधिग्रहण को इस आधार पर उचित ठहराने का प्रयास किया कि यह दावा योग्य अधिकार का अनिवार्य अधिग्रहण था। यदि ऐसा भी माना जाए, तब भी उनकी स्थिति धनराशि के समान ही है, यद्यपि उनका मूल्य सिक्कों अथवा मुद्रा-नोटों की अपेक्षा कम हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दावा योग्य अधिकार का भी इस प्रकार अधिग्रहण नहीं किया जा सकता; कूली के उपर्युक्त अवलोकनों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

लॉन्ग आइलैंड वॉटर सप्लाय कंपनी बनाम सिटी ऑफ ब्रुकलिन⁽¹⁾ तथा सिटी ऑफ सिनसिनाटी बनाम लुइसविले एंड नैशविले रेलरोड कंपनी⁽²⁾ के दोनों वाद विपरीत दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते। प्रथम वाद में एक जलापूर्ति कंपनी ने न्यू लॉट्स नगर (जो बाद में ब्रुकलिन नगर में विलीन हो गया) को जलापूर्ति करने का अनुबंध किया था, जिसके प्रतिफलस्वरूप नगर द्वारा अनुबंध में विनिर्दिष्ट अनुसार उपलब्ध कराए जाने वाले जल-स्तंभों के लिए भुगतान किया जाना था। यह अनुबंध 25 वर्षों की अवधि के लिए था। जब यह

(1) 166 यू.एस. 685; 41 नेतृत्व किया। पृष्ठ 1, 165.

(2) 223 यू.एस. 389; 56 नेतृत्व किया। 481.

विलय हुआ, तब ब्रुकलिन नगर को दो वर्षों के भीतर कंपनी की संपत्ति क्रय करने अथवा उसका अधिग्रहण करने की शक्ति प्रदान की गई थी, किन्तु उसने दोनों में से कोई भी कार्य नहीं किया। 1892 में विधानमंडल ने एक अन्य अधिनियम पारित किया, जिसने ब्रुकलिन नगर को कंपनी की संपत्ति का अधिग्रहण करने के लिए अधिकृत किया, बशर्ते कि आवश्यक कार्यवाही अधिनियम के पारित होने के एक वर्ष के भीतर प्रारंभ कर दी जाए। अधिग्रहण की प्रक्रिया स्वयं उसी अधिनियम में विनिर्दिष्ट की गई थी। इस शक्ति का प्रयोग नगर द्वारा किया गया और देय प्रतिकर का निर्धारण आयुक्तों द्वारा एक निश्चित राशि पर किया गया। कंपनी ने इस अधिग्रहण का विरोध संयुक्त राज्य संविधान के अनुच्छेद 1, कंडिका 10 के आधार पर किया, जो किसी भी राज्य को संविदात्मक दायित्वों को क्षीण करने वाला विधि बनाने से निषिद्ध करता है, और यह भी कहा गया कि यह 14वें संशोधन द्वारा अपेक्षित "विधि की समुचित प्रक्रिया" नहीं था। त्रुटि-याचिका पर, सर्वोच्च न्यायालय ने उस अधिग्रहण की पुष्टि की तथा यह तर्क अस्वीकार कर दिया कि संविदा का कोई हनन हुआ था। न्यायमूर्ति ब्रेवर ने इंगित किया कि संविदा मूर्त संपत्ति की केवल एक आनुषंगिक वस्तु है और अधिग्रहित की जाने वाली वस्तु वही मूर्त संपत्ति है, जो लोक उपयोग के लिए उपयुक्त है। संविदा वह वस्तु नहीं है जिसे अधिग्रहीत करने का प्रयास किया जा रहा है और यदि उसका कोई हनन होता भी है, तो वह मूर्त संपत्ति के अधिग्रहण का मात्र एक परिणाम है। वर्तमान वादों में यह कहना अस्थिर है कि किराया-बकायों का अधिग्रहण सम्पदाओं के अधिग्रहण का स्वाभाविक परिणाम है।

द्वितीय वाद में, एक रेलमार्ग कंपनी ने सिनसिनाटी के सार्वजनिक अवतरण-स्थल पर उन्नत रेलपथ के लिए मार्गाधिकार के अधिग्रहण हेतु वाद दायर किया। नगर ने इस आधार पर आपत्ति की कि सार्वजनिक अवतरण-स्थल पूर्ववर्ती संविदा के अधीन जनता को समर्पित संपत्ति बन चुका था, और ओहायो के एक अधिनियम के अधीन ऐसे अधिग्रहण की अनुमति देना संयुक्त राज्य संविधान के प्रथम अनुच्छेद की धारा 10 द्वारा निषिद्ध संविदा-हनन के समान होगा। न्यायालय ने न्यायमूर्ति लर्टन के माध्यम से यह निर्णय दिया : "किसी भी राज्यीय विधि द्वारा संविदाओं के दायित्व को क्षीण करने के विरुद्ध संवैधानिक निषेध, प्रख्यात अनुक्षेत्र की शक्ति पर कोई सीमा नहीं है। जब किसी संविदा को लोक उपयोग के लिए अधिग्रहीत किया जाता है तथा उसके लिए प्रतिकर प्रदान किया जाता है, तब उसके दायित्व का हनन नहीं होता। शक्ति का ऐसा प्रयोग न तो उसकी वैधता को चुनौती देता है और न ही

उसके दायित्व को क्षीण करता है। दोनों को मान्यता दी जाती है, क्योंकि उसका अधिग्रहण एक विद्यमान एवं प्रवर्तनीय संविदा के रूप में किया जाता है। यह उसके दायित्व का हनन नहीं, बल्कि उसका अधिग्रहण है। यदि प्रतिकर प्रदान किया जाए, तो किसी संवैधानिक अधिकार का उल्लंघन नहीं होता।”

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वाद दावा योग्य अधिकार के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित वाद नहीं थे। मूर्त संपत्ति से असंबद्ध दावा योग्य अधिकार केवल तब ही किसी लोक प्रयोजन के लिए उपयोगी हो सकते हैं जब उन्हें धनराशि में परिवर्तित किया जाए। धन-बकाये के संबंध में तो यह विशेष रूप से सत्य है। जब यह कहा जाता है कि धनराशि तथा दावा योग्य अधिकार अनिवार्य अधिग्रहण से अपवर्जित हैं, तो उसका आधार यह नहीं है कि वे जंगम संपत्ति हैं, बल्कि यह है कि सामान्यतः उनके अधिग्रहण में कोई लोक प्रयोजन निहित नहीं हो सकता।

धारा 23 के उपखंड (फ) में यह उपबंध किया गया है कि सकल परिसंपत्तियों में से 4 से 12½ प्रतिशत तक की राशि “रैयतों के हितार्थ कार्यों की लागत” के रूप में घटाई जा सकती है। यह सकल परिसंपत्तियों को यथासंभव न्यूनतम स्तर तक लाने का एक स्पष्ट उपाय प्रतीत होता है। अधिनियम यह नहीं कहता कि यह कटौती उन हितकारी कार्यों अथवा सुधारों पर हुए व्यय का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्हें करना जमींदारों एवं स्वामियों का कोई विधिक दायित्व था और जिसका निर्वहन उन्होंने नहीं किया। न ही हमें इस कटौती की गई राशि के भावी उपयोग अथवा गंतव्य के संबंध में कुछ बताया गया है। यह एक मनमाना आँकड़ा है, जिसके बारे में विधानमंडल ने कहा है कि उसे सकल परिसंपत्तियों में से घटाया जाना चाहिए। यह कटौती प्रतिकर को कम करने का मात्र एक उपाय है तथा सकल परिसंपत्तियों की गणना से एक काल्पनिक राशि घटाना विधायी शक्ति का एक आभासी अथवा कपटपूर्ण प्रयोग है।

अपने आवरणों अथवा बाह्य रूपों से रहित कर दिए जाने पर, अधिनियम में “किराया-बकायों” तथा “हितकारी कार्यों की लागत” संबंधी प्रावधान प्रत्यक्षतः निर्वस्त्र जब्ती के समान प्रतीत होते हैं। जहाँ विधायी कार्यवाही इस अर्थ में मनमानी हो कि उसका अभिप्रेत उद्देश्य से कोई युक्तिसंगत संबंध न हो, वहाँ विधानमंडल अपनी शक्ति की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। अधिग्रहण के लिए विधायन करने के बहाने, विधानमंडल राज्य को जब्ती करने की अनुमति नहीं दे सकता; और यदि वह ऐसा करता है, तो उस सीमा तक अधिनियम को असंवैधानिक एवं शून्य घोषित किया जाना आवश्यक है। यदि शून्य भाग शेष अधिनियम की

संरचना के साथ इस प्रकार अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ हो कि उसे पृथक करना संभव न हो, तो सम्पूर्ण अधिनियम को निरस्त करना होगा। किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है।

यह उल्लेखनीय है कि मध्य प्रदेश स्वामित्व अधिकार उन्मूलन अधिनियम, 1950 तथा उत्तर प्रदेश ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम, 1950, जो भी विचाराधीन हैं, उनमें निहित होने की तिथि से पूर्व की किसी अवधि के देय किराया-बकायों तक पहुँचने के इस दोष से मुक्ति है।

अपीलें स्वीकृत की जाती हैं; याचिका संख्या 612 खारिज की जाती है।

अपीलकर्ता (बिहार राज्य) की ओर से अभिकर्ता : पी. ए. मेहता।

उत्तरदाता की ओर से अभिकर्ता : जे. एन. श्रॉफ/ 1951 के वाद संख्या 339, 319, 327, 330 एवं 332 में

" " : गणपत राय/ 1951 के वाद संख्या 309, 326, 328, 336, 337 एवं 344 में

" " : आर. सी. प्रसाद/ 1951 के वाद संख्या 310, 311 एवं 329 में

" " : पी. के. चटर्जी/ 1951 के वाद संख्या 315 में

" " : सुकुमार घोष/ 1951 के वाद संख्या 307, 313, 320, 321 एवं 322 में

" " : एस. पी. वर्मा/ 1951 के वाद संख्या 331 में

1951 की याचिका संख्या 612 में याचिकाकर्ता की ओर से अभिकर्ता : गणपत राय।

1951 की याचिका संख्या 612 में उत्तरदाता संख्या 2 की ओर से अभिकर्ता : पी. ए. मेहता।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।